भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य-परम्परा

डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी

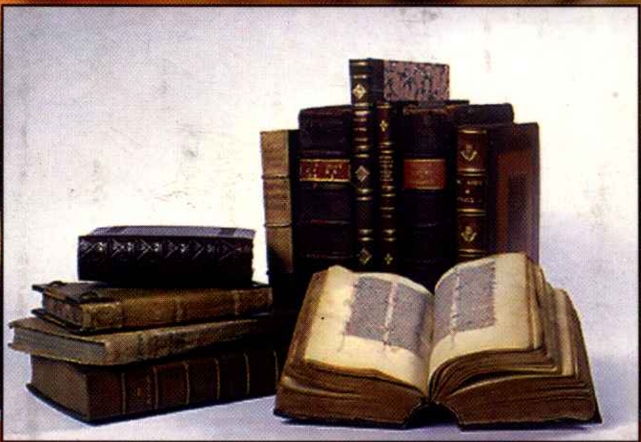

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय काव्यशास्त्र के प्रस्थानप्रवर्तक आचार्यों पर केन्द्रित है। इसमें ऐतरेय महीदास से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक ग्यारह आचार्यों के काव्य और कला से सम्बन्धित विचारों का गहरा विमर्श प्रस्तुत करते हुए इनके बीच पारस्परिक अन्त:संवाद, आदान-प्रदान तथा इनके माध्यम से हमारे कलाचिन्तन में उठने वाले शास्त्रार्थ या बहस के अनेक बिन्दुओं पर विद्वान् लेखक ने विचार किया है। श्री त्रिपाठी ने यहाँ भारतीय काव्यचिन्तन की तीन हजार वर्षों की सम्पन्न परम्परा को विशद रूप में उजागर किया है। प्रत्येक आचार्य की सांस्कृतिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए उन्होंने उसके समकालीन या पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों को भी तुलनात्मक आलोक में प्रस्तुत किया है। ये ग्यारह आचार्य परम्परा को उसकी समग्रता में समझने के लिये आधार भी बनाते हैं। स्वभावत: इनकी सांस्कृतिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर भी यहाँ विचार किया गया है, और इनके समकालीन या पूर्ववर्ती आचार्यों का भी यथाप्रसंग निरूपण किया गया है।

काव्यशास्त्र में रुचि रखने वाले सुधी पाठकों के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है।

भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य-परम्परा

डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

BHĀRATĪYA KĀVYASHĀSTRA KĪ ĀCHĀRYA PARAMPARĀ

by

Dr. Radhavallabh Tripathi

ISBN : 978-81-7124-568-0

प्रथम संस्करण : 2007 ई०

मूल्य : एक सौ अस्सी रुपये (Rs. 180.00)

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी–221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com ● sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी–221 001

भूमिका

भारतीय कलाचिन्तन का इतिहास लगभग पाँच सहस्र वर्षों की अवधि में विस्तृत है। इस अवधि में सैकड़ों श्रेष्ठ आचार्यों ने कविता और कला के विषय में विमर्श प्रस्तुत किया। इन आचार्यों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—प्रस्थानप्रवर्तक तथा प्रस्थानानुयायी। प्रस्तुत पुस्तक में प्रस्थानप्रवर्तक आचार्यों पर केन्द्रित है। इसमें ऐतरेय महीदास से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक ग्यारह आचार्यों के काव्य और कला से सम्बन्धित विमर्श का विवेचन किया गया है। ऐतरेय महीदास, भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, राजशेखर, अभिनवगुप्त, भोज तथा पण्डितराज जगन्नाथ—ये आचार्य निश्चित रूप से लक्षणों या काव्यविषयकोटियों के विचार में ऐसा कुछ जोड़ते हैं, जो चिन्तन के सारे परिदृश्य को बदल देता है। ये आचार्य भारतीय काव्यशास्त्र की विभिन्न चिन्तनसरणियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, तथा अपने-अपने प्रस्थान में अपनी विशिष्ट परम्परा भी रचते हैं। उनके बाद के आचार्यों ने उनके मन्तव्यों का पल्लवन किया है। इन प्रस्थानप्रवर्तक आचार्यों के दृष्टिकोण और चिन्तन पर विचार करते हुए मैंने इसमें इनके बीच पारस्परिक अन्त:संवाद, आदान-प्रदान तथा इनके माध्यम से हमारे कलाचिन्तन में उठने वाले शास्त्रार्थ या बहस के अनेक बिन्दुओं पर भी प्रकारान्तर से विचार किया है। ये ग्यारह आचार्य परम्परा को उसकी समग्रता में समझने के लिये आधार भी बनाते हैं। स्वभावत: इनकी सांस्कृतिक व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर भी यहाँ विचार किया गया है, और इनके समकालीन या पूर्ववर्ती आचार्यों का भी यथाप्रसंग निरूपण किया गया है।

आशा है काव्यशास्त्र में रुचि रखने वाले सुधी पाठकों को यह प्रयास उपादेय प्रतीत होगा।

राधावल्लभ त्रिपाठी

अनुक्रम

	पृष्ठ
१. ऐतरेय महीदास	१
२. भरत	९
३. भामह	३१
४. दण्डी	४०
५. वामन	४९
६. आनन्दवर्धन	६६
७. कुन्तक	८७
८. राजशेखर	१०१
९. अभिनवगुप्त	१०८
१०. भोज	१३२
११. पण्डितराज जगन्नाथ	१४१

अध्याय-१

ऐतरेय महीदास

ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद का एकमात्र उपलब्ध ब्राह्मण है। इसके प्रणेता ऐतरेय महीदास कहे गए हैं। आधुनिक विद्वानों की मान्यता है कि इतरा नामक दासी के पुत्र होने के कारण इनका नाम ऐतरेय हुआ। सायण के अनुसार किसी महर्षि की अनेक पत्नियाँ थीं, उनमें से इतरा भी एक थी, जिससे इनका जन्म हुआ, जब कि षड्गुरुशिष्य के अनुसार यज्ञवल्क नामक ऋषि की दो पत्नियाँ थीं—ज्येष्ठा तथा इतरा। इनमें से उपेक्षित इतरा से ऐतरेय उत्पन्न हुए। यज्ञ में पिता के द्वारा अपमानित किए जाने पर स्वयं धरित्री इनके लिए सर्वतोभद्र सिंहासन लेकर उपस्थित हुई और उस पर आसीन होने के कारण इनका नाम महीदास पड़ा।

महीप्रणीतासन आसनाच्च स्वाम्बासपत्नीमदनाशनाच्च।
महादानाद् वेदरूपाच्च नाम त्रिधानिरुक्तं तु पृषोदरादि॥

(*ऐतरेयब्राह्मण,* षड्गुरुशिष्य कृत भाष्य, पृ. ८)

ऐतरेय ब्राह्मण १००० ई.पू. या उससे पहले की रचना है। कला, संस्कृति और सौन्दर्य के विषय में इसमें जो चिन्तन महीदास ने प्रस्तुत किया है, उसे देखते हुए उन्हें विश्व का प्रथम कलाचिन्तक भी कहा जा सकता है। उनका यह चिन्तन वैदिक दर्शन या वैदिक विश्वबोध के मूलाधार पर प्रतिष्ठित है।

वैदिक विश्वबोध इस जगत् को परमात्मा की रची कविता के रूप में देखता है (देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति—*अथर्ववेद* १०/८/३२)। सम्पूर्ण जगत् को परमात्मा का काव्य कहना काव्य की एक व्यापक अवधारणा है। ऋषि जब कहते हैं कि देवता काव्य से बढ़ते हैं (स ववृधे काव्येन—*ऋग्वेद* ३/१/८) तो काव्य का एक और रूप उनकी दृष्टि में है। यह मनुष्य के द्वारा साक्षात्कृत है, इसमें भी देवतत्व समाहित है। शतपथ ब्राह्मण (७।२।२।१७) तथा बृहदारण्यक उपनिषद् (१/५.१४) में प्रजापति की सोलह कलाओं का विवरण है, जो काल या समयचक्र के रूप में जगत् को धारण करती हैं। यदि यह जगत् परमात्मा के द्वारा रची कविता है, तो इस कविता को कवि या कलाकार अपनी कृति में नए सिरे से रचता, कहता और प्रस्तुत करता है। ऐतरोय महीदास इस दृष्टि से समस्त कलाओं या शिल्प को दो प्रकार का मानते हैं—देवशिल्प और मानुष शिल्प। देवशिल्प की ही अनुकृति मानुष शिल्प है। इस संसार के नाना

पदार्थ देवताओं के शिल्प हैं। उनकी अनुकृति में मनुष्य अपना शिल्प, कला या कविता रचता है।

एतेषां देवशिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते।
हस्ती, कंसो वासो हिरण्यम्, अश्वतरी रथः।
(*ऐतरेयब्रा.* ३०/१, भाग-३, पृ. १३१)

अनुकृति शब्द का प्रयोग ऐतरेय ने सोमयाग के वर्णन में सोमक्रय के प्रसंग में भी किया है (तामनुकृतिं... वत्सतरीमाजन्ति सोमक्रयणीम्, *ऐतरेयब्रा.* १/५) यद्यपि षड्गुरुशिष्य ने यहाँ अनुकृति का अर्थ 'कृतिम् अनु तदनुसारेण' लिया है।) देव अथवा परमात्मा के शिल्परूप इस जगत् में त्रिलोकी समाहित है। उसी तरह इस देवशिल्प की अनुकृति में मनुष्य जो शिल्प रचता है उसमें समस्त ललित, रूपंकर तथा प्रदर्शनकारी कलाएँ समाहित हो जाती हैं। परमात्मा आत्म-विस्तृति या अपनी लीला के विस्तार के लिए जगत् रूपी शिल्प को रचता है, तो मनुष्य आत्मसंस्कृति के लिए मानुष शिल्प रचता है। ऐतरेय महीदास पहले भारतीय विचारक हैं, जिन्होंने कला या शिल्प की अवधारणा से जोड़कर संस्कृति की अवधारणा प्रस्तुत की है।

आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि। छान्दोमयं वा। एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते। (*ऐतरेयब्रा.* ६/२७)। (*ऐतरेयब्रा.* ३०/१, भाग-३, पृ. १३२)।

यहाँ छन्दस् या काव्य को भी शिल्प कहा गया है। इस तरह कविता कवयिता तथा भावक दोनों का संस्कार करती है—यह मन्तव्य यहाँ स्पष्ट है। अन्यत्र भी ऐतरेय ने कहा है कि स्तोता स्तुति के द्वारा अपने को संस्कारित करता है। (स्तोत्रियं शंसति। आत्मा वै स्तोत्रियः। तं मध्यमया वाचा शंसति। आत्मानमेव तत् संस्कुरुते। *ऐतरेयब्रा.* १३/१२, पृ. ५१२)

कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य, गीत तथा वादित्र को भी शिल्प के रूप में परिभाषित किया गया है—

त्रिवृद् वै शिल्पम्—नृत्यं गीतं वादितमिति। (*कौषीतकि ब्रा.* २९/५)

छन्द को भी ऐतरेय ने शिल्प कहा है। अतएव कविकर्म भी शिल्प है। जिस तरह प्रत्येक शिल्प आत्मसंस्कृति है, वह शिल्पकर्ता और शिल्प के भावक को संस्कारित करता है, उसी तरह कविकर्म भी कवि और भावक दोनों को पावन बनाता है। छन्द मुक्ति देते हैं, पाप के पंक से मनुष्य को उबार लेते हैं। वे पाप से बचाए रखने के लिए हमारे आच्छादक या रक्षाकवच बन जाते हैं। सायण ने *ऋग्वेद* की १.१ के प्रस्तावना में कहा है—

पुरुषस्य पापसंबंधं वारयितुमाच्छादकत्वात् छन्द इत्युच्यते। तच्चारण्यकाण्डे समाम्नायते छादयन्ति हि वा एवं छन्दांसि पापात् कर्मणः

(*ऐ.आ.* २/५) । अथवा चीयमानाग्निसन्तापस्याच्छादकत्वाच्छन्दः । तच्च तैत्तिरीया आममन्ति—'प्रजापतिरग्निमचिनुत, स क्षुरपविर्भूत्वाऽतिष्ठत्तं देवा बिभ्यो नोपायन्ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। (*तैत्ति.सं.* ५/५/६) यद् वा अपमृत्युं वारयितुमाच्छादयतीति छन्दः । तदपि छान्दोग्योपनिषद्याम्नातं—'देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशंस्ते छन्दोभिरात्मानमाच्छादयन् यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्।' (*छा.उ.* १४/२)। (*ऋग्वेद,* सायणभाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३, प्रथम खण्ड, पृ. ३२)

सायण छन्द की जो विवृति यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, वह ऐतरेय की उस परम्परा का भाष्य ही है, जो वैदिक संहिताओं से जन्म लेकर ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों में पल्लवित हुई। वस्तुतः छन्द में देवता रमते हैं। यही छन्द का अलंकार है। ऋषि इन्द्र से पूछते हैं—

इन्द्र का ते अस्ति अरङ्कृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम?
(ऋ. ७.२९.३)

यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण से ऊपर दिए गए उद्धरण के उत्तरार्ध में महीदास ने जो उदाहरण शिल्प के दिए हैं, वे सब केवल रूपंकर कलाओं के हैं, पर आगे वे स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि देवशिल्प और मानुषशिल्प के रूप में द्विविध शिल्प की उनकी अवधारणा वस्तुतः तकनीकी या रूपंकर कलाओं पर ही नहीं, ललित व प्रदर्शनकारी कलाओं के लिए भी है। अतएव गीत का प्रतिपादन करते हुए गीत के भी ये दोनों प्रकार वे बतलाते हैं—दैव गीत और मानुष गीत। दैव गीत ऋक् है, मानुष गीत गाथा है (*ऐत.ब्रा.* ७/८)। कविता और कला अथवा व्यापक अर्थ में शिल्प के दैव और मानुष के रूप में ये दो प्रकार काव्यरचना या कलासर्जना की प्रक्रिया को भी इंगित करते हैं। दैव गीत या ऋक् ईश्वर की कृति है, जिसे ऋषि साक्षात्कार में देखता है, मानुष गीत सायास रची हुई कृति है।

जिस तरह वैदिक ऋषि समस्त सृष्टि को परमात्मा के काव्य के रूप में अनुभव करता है, उसी तरह ऐतरेय समस्त सृष्टि को शिल्प के रूप में देखते हैं। काल की गति में शिल्प है, नृत्य में लय व गति है इसलिए नृत्य भी शिल्प है, दिन और आवर्तन और परावर्तन में गति करते हैं, इसलिए ऐतरेय दिन और रात के आने और जाने में नृत्य देखते हैं—

अहश्च रात्रिश्च कृष्णमहरर्जुनं चेत्याविनमारुतस्य प्रतिपद-हश्चाहश्चेति पुनरवृत्तं पुनर्निनृत्तम्। (*ऐतरेयब्रा.* ५/१५)

शिल्प की यह व्यापक अवधारणा तथा जगत् का परमात्मा के शिल्प के

रूप में दर्शन इस परम्परा में आगे की सहस्राब्दियों में अव्याहत बना हुआ है। *महाभारत* में कहा गया है—

योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पानि कर्म च।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् सर्वं जनार्दनात्॥

ऐसा लगता है कि नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि भी जहाँ-जहाँ शिल्प का उल्लेख करते हैं, उसकी इस व्यापक विवृत्ति को दृष्टि में रख कर ही करते हैं। क्योंकि वे बार-बार कहते हैं कि नाट्य में सारे शिल्प समाहित हो जाते हैं और यह कहते हुए वे कहीं भी काव्य का उल्लेख शिल्प के साथ नहीं करते। स्पष्ट ही काव्य भी उनके अनुसार इसी शिल्प में समाहित है।

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्मनाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
(२/११६ तथा १९।१४३)

न शक्यमस्य नाट्यस्य गन्तुमन्तः कथञ्चन।
कस्माद् बहुत्वाज्ज्ञानानां शिल्पानां वाऽप्यनन्ततः॥ (६/६)

कुल मिलाकर ऐतरेय महीदास के द्वारा प्रस्तुत शिल्प की व्याख्या और काव्य-कला-सर्जना प्रक्रिया की विवृति समग्र भारतीय परम्परा में अव्याहत बनी रही है। ललितविस्तर में शिल्पसन्दर्शन-परिवर्तन प्रकरण में नाना प्रकार के शिल्पों के नाम दिए गए हैं, यहाँ भी काव्य, चित्र, रूपकर्म, वाद्य आदि का शिल्प के अन्तर्गत उल्लेख है। भावप्रकाशकार शारदातनय एक ही पदार्थ को नानारूपों में विन्यस्त करने की प्रक्रिया को शिल्प मानते हैं (*भाप्र.* ३/७६/३-४)।

इसी क्रम में ऐतरेय ब्राह्मण में शिल्पसंबंधी सूक्तों का भी विवरण दिया गया है, जिनका षडह के दिन पाठ किया जाता था (शिल्पानि शंसन्ति-*ऐ.ब्रा.* ६/२७)।

ऐतरेय महीदास के देवशिल्प और मानुष शिल्प की यह अवधारणा भारतीय कला चिन्तन और व्यवहार में दूर-दूर तक अनुप्रविष्ट देखी जा सकती है। कविगण भी संसार में जो सौन्दर्य, लालित्य, उदात्त और भव्य है उसे परमात्मा या प्रजापति की आद्य सृष्टि बताते आए हैं। कालिदास 'या सृष्टि सुष्टुराद्या' या 'स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे' द्वारा ही नहीं, दुष्यन्त के द्वारा निर्मित शकुन्तला के चित्र की रचना-प्रक्रिया की जो मीमांसा करते हैं, उसमें भी परमात्मा की सृष्टि तथा मनुष्यकृत शिल्प रचना में उसकी अनुकृति को स्वीकार करते हैं, साथ ही वे यह भी कहना चाहते हैं कि परमात्मा की सृष्टि में जिस आनन्त्य और वैविध्य के साथ सौन्दर्य का उल्लास है, अंशतः ही मानवकृत कलाशिल्प में अन्वित हो पाता है—

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत् तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥
(*अभिज्ञानशाकुंतल,* ६/१४)

कथासरित्सागर में तो दिव्यशिल्प और मानुषशिल्प की ऐतरेय की अवधारणा को नायिका से सौन्दर्यवर्णन में यथावत् दोहरा सा दिया है—

ते तन्निरूप्य जगदुर्नेदृशो देव शक्यते
अपरः कर्तुमेतद्धि दिव्यं शिल्पं न मानुषम्॥

(*कथासरित्सागर,* २५/१/७५)

ऐतरेय महीदास ने अनुकृति शब्द के प्रयोग के साथ अनुकृति की जिस प्रक्रिया की ओर संकेत किया है, उसी का पल्लवन भरत मुनि से आरम्भ करके भारतीय कलाचिन्तन या नाट्यशास्त्रीय विचार में अभिनवगुप्त आदि करते आए हैं। अनुकरण की जो अवधारणा प्लेटो में थी, उसमें कला या काव्य को गर्हित दृष्टि से देखा गया। प्लेटो की दृष्टि से कला या कविता अनुकृति की भी अनुकृति मात्र है इसिलए वह सत्य से दो गुना दूर है। यह जगत् ही परमात्मा की परिकल्पना की अनुकृति या नकल है, कला, कविता या नाटक इस नकल की भी नकल है। भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त ने अनुकृति के दो अर्थ बताए हैं—एक अत्यन्त सीमित और लौकिक अर्थ है, जिसमें परचेष्टा का हास्योत्पादक हू-ब-हू पुनः प्रस्तुतीकरण होता है। पर व्यापक अर्थ में आचार्य समस्त नाट्य या कलाव्यापार को ही अनुकृति कहते हैं।

तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायः।
तेनानुव्यवसायवद् विशेषीकार्यं नाट्यम्।
तस्मादनुव्यवसायात्मकं कीर्तनं रूषितविकल्पसंवेदनं नाट्यम्। तद्वेदनवेद्यत्वात्। न त्वनुकरणरूपम्। यदि त्वेवं मुख्यलौकिककरणानुसारितयाऽनुकरणमुच्यते तत्र कश्चिद् दोषः। स्थिते वस्तुतो भेदे शब्दप्रवृत्तेरविवादास्पदत्वात्। (*अभिनव-भारती, नाट्यशास्त्र,* वडोदरा सं. भाग-१, पृ. ३६-३७)

व्यापक अर्थ में अनुकृति अनुव्यवसायात्मक कवि-नट-सहृदयगत सर्जनात्मक व्यापार है। प्लेटो का खंडन करते हुए अरस्तू ने अनुकृति की इसी व्यापक आधार पर अवधारणा प्रस्तुत की। उसके अनुसार कलागत या काव्यगत अनुकृति हू-बहू नकल न हो कर पुनःप्रस्तुति (रिप्रजेंटेशन) है। अरस्तू में यह अनुकृति कविगत सर्जनात्मक व्यापार है।

ऐतरेय महीदास के कलासर्जनाविषयक चिन्तन में सबसे महत्वपूर्ण कथ्य है उनके द्वारा शिल्प व आत्मसंस्कृति को अभिन्न बताना। अर्थात् कला या शिल्प की रचना आत्मसंस्कार है। हमारे समय में मार्क्स एक सर्वथा भिन्न परिप्रेक्ष्य में ही सही, प्रकारान्तर से ऐतरेय की बात को दोहराते हैं। वे कहते हैं कि कारीगर या शिल्पी अपने औजारों से रचना करता हुआ दुनिया को भी बदलता है और

उसके साथ अपने आप को भी बदलता है। 'इस प्रकार बाह्य जगत् में काम करते हुए उसके अपने स्वभाव में भी परिवर्तन होता है, वह अपनी सोची हुई शक्तियों का विकास करता है और अपनी अभिरुचि के अनुरूप ही उन्हें काम करने को बाध्य करता है।' (मार्क्स : *केपिटल,* खण्ड-१, मास्को १९८५, पृ. १७७-७८)।

शिल्प की जो विवृति ऐतरेय ने की, उसका अवबोध परम्परा में निरन्तर और अव्याहत बना रहा। इसीलिए अभिनवगुप्त तन्त्रालोक में कहते हैं कि इस सारे दर्शन व अनुष्ठान का मूल ऐतरेय ब्राह्मण में है। इसके साथ ही वायुपुराण में यह भी कहा गया कि शैवागमों का मूल ईश व श्वेताश्वतर उपनिषद् हैं।

शिल्प सृष्टि का यज्ञ है। जीवन में ओतप्रोत है। वह प्राण है, तृतीय सवन है। कौषी. ब्राह्मण और शांखा.ब्रा. में ये विचार बार-बार दोहराए गए हैं। प्राण के बिना आत्मा नहीं उसी प्रकार शिल्प के बिना मनुष्य का आत्मा नहीं। इसलिए प्रत्येक यज्ञ में शिल्प का शंसन अनिवार्य है। पृष्ठ्य या सामगायन की विधि में शिल्प है।

प्राणास्तानि शिल्पानि, पुरुषौ वै यज्ञस्तस्य य ऊर्ध्वाः प्राणास्तत् प्रातः सवनमात्मा माध्यन्दिनो येऽ वाञ्चस्ते तृतीयं तानि शिल्पानि तस्मात् तृतीये सवने शिल्पानि क्रियन्त एतद्ध्येषाममायतनमथ। (*कौषी.ब्राह्मण* २५/१२, *शांखा.ब्रा.* २५/१२)

आत्मा वै पृष्ठ्यानि प्राणाः, शिल्पानि न वाऽन्तरेणऽऽत्मानो एतन्नाना तस्मादग्निष्टोम एवापि विश्वजितस्तस्मात् सर्वाणि पृष्ठ्यानि क्रियन्ते सर्वाणि शिल्पानि। (*कौषी. ब्राह्मण* २५/१२, *शांखा.ब्रा.* २५/१२)

मन्त्र यज्ञ में अन्न हैं, तो शिल्प प्राण हैं—न्यङ्खोऽन्नं प्राणाः शिल्पानि प्राणेष्वेव तत्प्राणं दधात्। (*कौषी. ब्राह्मण* २५/१३, *शांखा.ब्रा.* २५/१३)

कौषीतकि दिक्काल को शिल्प में प्रतिष्ठित करता है। अन्तरिक्ष किस पर टिका हुआ है? यदि शिल्प न हो तो अन्तरिक्ष टिका नहीं रह सकता—

अथो अन्तरिक्षे वा एष मध्यमस्त्र्यहः, अनारम्भणं वा इदमन्तरिक्षम् प्रतिष्ठानम्। शिल्पेष्वेव तदहरहः प्रतितिंष्ठन्तो यान्ति (*कौ.ब्रा.* २९।५)

नृत्त गीत और वादित्र को कौषीतकि शिल्प कहता ही है, अन्यत्र ऋचाओं का साम के रूप में गायन भी शिल्प है। यही शिल्प यज्ञ है।

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थिते वामारमे ते मा पातमास्य यज्ञस्य वृचः। शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा हिंसीः। (*तै.सं.* १/२/२/१, ६/१/१/३, *मैत्री.सं.* १/२/२, *काठकसं.* २/५)

ऐतरेय महीदास ने कवि को अनूचान (सांग वेदाध्यायी, विद्वान्) के अर्थ में लिया है—(ये वा अनूचानास्ते कवयः-*ऐतरेयब्रा.* २/६५, पृ. २१६)। काव्यरचना या कलासर्जना की प्रक्रिया में चेतना के वे तीन स्तर इंगित करते

हैं—सरस्वती, इला तथा भारती। वाक् राष्ट्री या ईश्वरी है (वाग्वै राष्ट्री—वही, १।४, पृ. १२१)। वृत्तिकार षड्गुरु शिष्य ने यहाँ राष्ट्री का अर्थ ईश्वरी किया है। ये तीनों देवियों प्राणस्वरूपा हैं, इनके द्वारा यजमान त्वष्टा का यजन करता है। वस्तुतः वाक् ही त्वष्टा है, इस सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने के कारण इसे त्वष्टा कहा जाता है—

त्वष्टारं यजति। वाग्वै त्वष्टा। वाग्घीदं सर्वं ताष्टीव। (*ऐतरेयब्रा.* ४/६, पृ. २२८) षड्गुरुशिष्य ने ताष्टि का अर्थ 'प्रकाशयति' किया है। ऐतरेय प्रजापति की सृष्टि प्रक्रिया के रूपक के द्वारा भी कलासर्जना प्रक्रिया की ओर इंगित करते हैं। तदनुसार प्रजापति ने तप किया और तप के द्वारा वाक् की प्राप्ति की। वाक् से उन्होंने समस्त जगत् को रचा (*ऐतरेयब्रा.* १/१०. पृ. ३६७-६८)।

सृष्टि के यज्ञ में सूक्तों या छन्दस् को पशु बनाकर बलि स्वरूप अर्पित किया जाता है उसी से यजमान या सर्जक इस लोक में स्वर्ग में प्रतिष्ठित होता है—

मिथुनानि सूक्तानि शंस्यन्ते, त्रैष्टुभानि च जागतानि च, मिथुनं वै पशवः पशवश्छन्दांसि पशूनामवरुद्ध्यै। (*ऐतरेयब्रा.* १८/७, भाग-२, पृ. ९५)।

ऐतरेय वाणी को समुद्र के समान बताते हैं, जिस तरह समुद्र कभी क्षीण नहीं होता, उसी तरह वाक् भी कभी क्षीण नहीं होती—

वाग्वै समुद्रः। न वै वाक् क्षीयते। न समुद्रः क्षीयते। (*ऐतरेयब्रा.* २३/१, भाग-२, पृ. २२७)। वृत्तिकार षड्गुरुशिष्य के अनुसार वै यहाँ इवार्थक है।

आगे चल कर आनन्दवर्धन ने कहा—न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः—यदि कवि में प्रतिभा है तो काव्य की परिकल्पनाएँ अनन्त हो जाती हैं, सैकड़ों वाचस्पति भी उन्हें निःशेष नहीं कर सकते।

इस छन्दस् या वाक् में रस होता है। छन्दस् के रस का प्रतिपादन भी ऐतरेय ने इतिहास के आख्यान के माध्यम से किया है। छन्दस् में जो रस था, वह विगलित होने लगा, जिससे प्रजापति भयभीत हुए कि इस तरह तो छन्दस् का रस लोक से अतिक्रान्त हो जाएगा। तब उन्होंने छन्दस् के उस रस को नारांशंसी तथा गायत्री के द्वारा बाँध लिया।

छन्दसां वै षष्ठेनाह्नाप्तानां रसोऽत्यनेदत्। स प्रजापतिरबिभेत्। पराङयं छन्दसां रसो लोकानत्येष्यतीति। तं परस्ताच्छन्दोभिः पर्यगृह्णात्। नाराशंस्या गायत्र्याः। रैभ्या त्रिष्टुभः। पारिक्षित्या जगत्याः। कारव्यानुष्टुभः। तत् पुनः छन्दःसु रसमदधात्। सरसैर्हास्य छन्दोभिरिष्टं भवति। सरसैश्छन्दोभिर्यज्ञं तनुते य एवं वेद।

(*ऐतरेयब्रा.* ३०/६, भाग-३, पृ. १५५-५९)

कलासर्जना के विषय में एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान ऐतरेय महीदास ने साम गीत की उत्पत्ति की रूपक-कथा के द्वारा भी प्रस्तुत किया है। कथा इस प्रकार

है—पूर्व में ऋक् और साम पृथक् थे। ऋक् का नाम सा तथा साम का नाम अम: था। ऋक् ने प्रजोत्पादन के लिए अम: से विवाह का प्रस्ताव किया। साम या अम: ने अपनी महिमा अधिक बताते हुए यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। फिर दो ऋचाओं ने मिलकर अम: के साथ विवाह का प्रस्ताव किया। अम: ने अपनी महिमा अधिक बताते हुए फिर से यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। तब तीन ऋजाओं ने मिलकर अम: के साथ विवाह का प्रस्ताव किया, और अब की बार अम: ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, जिससे साम की उत्पत्ति हुई, और सा तथा अम: के युगल को साम कहा गया (*ऐत.ब्रा.* ३/२३)।

कलासर्जनाविषयक महत्वपूर्ण चिन्तन के कारण नीहाररंडजन रे ने ऐतरेय महीदास को कला के क्षेत्र में विश्व का प्रथम विचारक माना है।

टिप्पणी—*ऐतरेय ब्राह्मण* के निम्नलिखित संस्करण यहाँ उपयोग में लाए गए हैं—षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति स. सं. अनन्तकृष्ण शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १९४२-५२, सायणभाष्यस., आनन्दाश्रम ग्रंथमाला, पूना, १९७९ तथा षड्गुरुशिष्यकृत सुखप्रदावृत्ति स.-तीन भाग, नाग प्रकाशन, दिल्ली, १९९१ (इस अध्याय में पृष्ठ संख्या इसी संस्करण से दी गई)।

●

अध्याय-२

भरतमुनि

भारतीय साहित्य की परम्परा में जो स्थान महर्षि व्यास का है, वही स्थान भारतीय कला परम्परा में भरतमुनि का है। महर्षि व्यास ने सहस्राब्दियों से चली आ रही आख्यान परम्परा का संकलन करके एक संहिता रची, उसी तरह भरतमुनि ने भी रंगमंच, नाटक, संगीत, नृत्य तथा अन्य कलाओं की परम्पराओं का संग्रह करके एक संहिता निर्मित की।

इसीलिए परम्परा में महाभारत को भी संहिता कहा गया है और नाट्य-शास्त्र को भी। महाभारत के विषय में एक परम्परा यह मानती आई है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को लेकर जितना जो कुछ चिन्तन, मनन कहीं भी हुआ है, वह सब महाभारत की इस विशाल पोथी में है, जो कुछ इस पोथी में नहीं है, वह और कहीं भी नहीं मिल सकता। यही नहीं, यह भी कहा गया कि जो भारत देश में नहीं, वह महाभारत में भी नहीं है; और जो भारत देश में है, वह महाभारत में है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

तथा

यन्न भारते तन्न भारते।

महाभारत यदि भारतीयता का पर्याय मान लिया गया, तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को भारतीय कला परम्परा का पर्याय माना गया। भरतमुनि ने जो कह दिया, उसका व्याख्यान और पुनर्व्याख्यान करते हुए परम्परा का पल्लवन होता रहा।

परम्परा यह भी बताती है महत्त्व और भारवत्त्व (अर्थात् महत्ता और आकार की विशालता) के कारण महाभारत को महाभारत कहा गया। अर्थात् महाभारत किसी एक परम्परा, एक सम्प्रदाय, एक प्रस्थान तक सीमित नहीं है, वह विभिन्न परम्पराओं, प्रस्थानों व सम्प्रदायों का विवेचन करता है, पर उसकी अपनी महापरम्परा है। नाट्यशास्त्र भी कलापरम्परा में प्रस्थानों की बहुलता के अंगीकार के साथ अपनी एक महती परम्परा निर्मित करता है। ऐसा नहीं है कि महाभारत की महापरम्परा के सामने अवांतर परम्पराएँ अनदेखी रह गईं हों। इसी

तरह नाट्यशास्त्र की सर्वातिशायिता को लेकर प्राचीन आचार्य परम्परा में प्रश्न न उठे हों, ऐसा भी नहीं है। भरतमुनि की स्थापनाओं से असहमति प्रकट करनेवाले भी अनेक आचार्य हुए। महाभारत के विषय में तर्कबुद्धि से परिचालित लोग यह प्रश्न उठाते आए हैं कि क्या वह सचमुच व्यास नाम के किसी एक व्यक्ति की रचना है? उसी तरह भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के विषय में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही कुछ इसी तरह का विवाद किया जाता रहा। नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार अभिनवगुप्त बताते हैं कि नाट्यशास्त्र किसी भरतमुनि का रचा हुआ नहीं है—यह मानने वाले आचार्यों की एक परम्परा उनके पहले थी। अभिनवगुप्त ने ऐसे आचार्यों को 'नास्तिकधुर्योपाध्याय' कहा है। नास्तिक का अर्थ है—नकारने वाला। जो आचार्य भरतमुनि की ऐतिहासिकता और उनके नाट्यशास्त्र के कर्तृत्व को नकारते थे, उन्हें आचार्य अभिनवगुप्त ने नास्तिकधुर्योपाध्याय कहा। इन नास्तिकधुर्योपाध्यायों का कहना था कि नाट्यशास्त्र नाम की पुस्तक किसी भरतमुनि की रची हुई नहीं हो सकती, क्योंकि—(१) इसी पुस्तक में भरतमुनि का उल्लेख एक आदरणीय प्राचीन मुनि के रूप में बार-बार किया गया है, (२) इसी पुस्तक में एकाधिक स्थलों पर यह बताया गया है कि इस नाट्यशास्त्र को कई लोगों ने मिलकर रचा।

भरतमुनि को नकारने वाले आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत ये दोनों ही उल्लेख तथ्य हैं। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि का उल्लेख अनेकत्र अन्य पुरुष सर्वनाम में है, तथा इस ग्रंथ के अन्त में यह भी कहा गया है कि इसे कोहल, वत्स, शाण्डिल्य और धूर्तित (दत्तिल) ने रचा है (*नाट्यशास्त्र* ३७/२४, २५)। पर यह भी सत्य है कि नाट्यशास्त्र में भरतमुनि स्थान-स्थान पर अपना उल्लेख प्रथम पुरुष में भी करते हैं। *नाट्यशास्त्र* के पहले अध्याय की पहली कारिका है—

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ।
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्॥

(पितामह ब्रह्मा तथा महेश्वर शिव को मस्तक से प्रणाम करके मैं ब्रह्मा के द्वारा कहे गए नाट्यशास्त्र को यहाँ कहूँगा।) यहाँ नाट्यशास्त्र के प्रवक्ता भरतमुनि ही हैं। नाट्यशास्त्र एक प्रोक्त (कहा गया) ग्रंथ है।

इसी अध्याय में आत्रेय आदि मुनि भरतमुनि के पास आकर नाट्य के संबंध में प्रश्न करते हैं। भरतमुनि कहते हैं—

भवद्भिः शुचिभिर्भूत्वा तथावहितमानसैः।
श्रूयतां नाट्यवेदस्य सम्भवो ब्रह्मनिर्मितः॥　*नाशा.* १/८

(आप लोग शुचि या पवित्र होकर सावधान मन से ब्रह्मा के द्वारा निर्मित नाट्यवेद की उत्पत्ति के विषय में (मेरे द्वारा किए जा रहे विवेचन को) सुनें।)

ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना क्यों और कैसे की यह बता कर भरतमुनि फिर कहते हैं—

आज्ञापितो विदित्वाऽहं नाट्यवेदं पितामहात्।
पुत्रानध्यापयामास प्रयोगं चापि तत्त्वतः॥ (*वही,* १/२५)

(पितामह ब्रह्मा से नाट्यवेद सीखकर मैंने उनकी आज्ञा से यह नाट्यवेद तथा इसका प्रयोग तत्त्वपूर्वक अपने पुत्रों को पढ़ाया।)

पहले अध्याय से आरम्भ कर अन्तिम अध्याय तक भरतमुनि के सम्बोधन और विवेचन का यह क्रम नाट्यशास्त्र में बना हुआ है। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र एक प्रोक्त ग्रंथ है—वह भरत नाम के नाट्याचार्य के द्वारा कहा हुआ है। उसका लिखित रूप में संकलन बाद में हुआ। पर परम्परा में भरत को ही उसका प्रणेता माना गया, जो उचित भी है।

रही बात कोहल, वत्स, शाण्डिल्य आदि के द्वारा इस ग्रंथ के रचे जाने की, तो यह भी भरतमुनि कहते हैं कि जो कुछ मुझसे छूट गया है, उसे मेरा शिष्य कोहल कहेगा (वही, ३७/१८)। कोहल, वत्स, शाण्डिल्य और दत्तिल के नाम भी नाट्यशास्त्र में पहले अध्याय ही भरतमुनि ने अपने सौ शिष्यों या पुत्रों की सूची में दिए हैं।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र परम्पराओं का व्याख्यान है। प्रश्न, उत्तर, प्रति-प्रश्न और समाधान—इनसे इसका कलेवर रचा गया है। आख्यानों और उपाख्यानों में गुँथा हुआ महाभारत का कलेवर भी प्रश्न और उत्तर तथा प्रतिप्रश्न और प्रत्युत्तर इन शृंखलाओं से रचा गया है। नाट्यशास्त्र के आरम्भ में आत्रेय आदि मुनि भरतमुनि के पास आकर नाट्य के संबंध में प्रश्न करते हैं। इन प्रश्नों के समाधान और फिर प्रश्न और पुनः समाधानों के ताने-बाने से नाट्यशास्त्र रचा गया। भरतमुनि का संवाद जब आत्रेय आदि जिज्ञासु मुनियों के साथ चल रहा था, उस समय कोहल आदि उनके शिष्य उपस्थित थे। निश्चय ही प्रश्न, प्रतिप्रश्न और शंका-समाधान के इस क्रम में भरतमुनि के द्वारा दीक्षित इन शिष्यों की भी सहभागिता रही होगी। प्रोक्त ग्रंथ का कर्ता उसका प्रवक्ता ही हो सकता है, अतः नाट्यशास्त्रकार तो भरतमुनि ही हैं; प्रवचन के समय जो लोग प्रश्न या शंका-समाधान की प्रक्रिया में सहभागी रहे, उनका ग्रंथ की रचना में सहयोग स्वीकार किया गया। इस दृष्टि से नाट्यशास्त्र के अन्त में कोहल आदि भरत शिष्यों के भी नाम नाट्यशास्त्र के प्रणयन में सहयोग की दृष्टि से दिए गए हैं। इन्हें नाट्यशास्त्र का प्रणेता कहा गया है। प्रणेता शब्द बाद में जाकर रचनाकार के अर्थ में रूढ़ हुआ है। मूलतः यह प्रकृष्ट रूप में नयन (आगे ले जाने का काम) करनेवाला—इस अर्थ का वाचक है। अतएव भरतमुनि के द्वारा बनाए गए या कहे गए

नाट्यशास्त्र को कोहल आदि उनके शिष्यों ने आगे बढ़ाया—यही परम्परा ग्राह्य होनी चाहिए।

आत्रेय आदि मुनियों ने भरतमुनि से पाँच प्रश्न किए—

१. नाट्यवेद कैसे उत्पन्न हुआ?

२. यह किसके लिए उत्पन्न हुआ?

३. इसके कितने अंग हैं?

४. इसका प्रमाण क्या है?

५. इसका प्रयोग किस तरह होता है?

इन पाँचों प्रश्नों का उत्तर नाट्यशास्त्र है। ये प्रश्न वास्तव में सांकेतिक हैं। ये कलासृष्टि के सारे संसार को लेकर किए गए प्रश्न हैं। नाट्यवेद कैसे उत्पन्न हुआ—इस प्रश्न में केवल यही जिज्ञासा नहीं है कि हमारे देश में नाटक खेलने की कला का उद्भव कैसे हुआ, बल्कि यह सवाल भी समाया हुआ है कि रंगमंच पर नाटक कैसे रचा जाता है, या नाटक किस तरह प्रस्तुत किया जाना चाहिए। यह नाट्यवेद किसके लिए है—इस प्रश्न में भी कवि, अभिनेता और प्रेक्षक तीनों के स्वरूप और व्यवहार को लेकर प्रश्न खड़ा किया गया है। पहले दो प्रश्नों का विस्तार से उत्तर भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के प्रथम पाँच अध्यायों में दिया है। छठे अध्याय से अन्तिम अध्याय तक शेष तीन प्रश्नों का उन्होंने समाधान किया है। अन्तिम अध्याय में नाट्यावतरण की कथा में एक बार फिर सारे पाँचों प्रश्नों के उत्तर समाहित होकर प्रस्तुत कर दिए गए हैं। इस तरह सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र एक महावाक्य या समन्वित और सुसम्बद्ध ग्रंथ है और भरतप्रोक्त होने से इसके कर्ता भरतमुनि ही हैं।

भरतमुनि ने स्वयं नाट्यशास्त्र की समग्र संरचना के ये स्तर बतलाए हैं—सूत्र, संग्रह, कारिका, भाष्य और परिकर श्लोक। संग्रह का अर्थ है—सम्यक् ग्रहण, किसी तत्त्व को इस तरह निरूपित करना कि उसके स्वरूप को लेकर कोई शंका न रहे (सम्यक् ग्रहणं सङ्ग्रहः, यतः परं निर्विशङ्कप्रतीत्यर्थं प्रमाणान्तरं नापेक्ष्यते, तच्च साक्षात्काररूपमेव-अभिनवभारती)। अतः संक्षेप में सूत्रबद्ध रूप में किसी वस्तु का स्वरूप इस तरह बताना कि वह स्पष्ट दिखाई पड़ जाए—संग्रह है। संग्रह के लिए सूत्र की तकनीक अपनाई जाती है। इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करने के लिए यथावसर कारिका का उपयोग किया जाता है। सूत्र नपे तुले कुछ ही शब्दों का होता है, कारिका में एक पूरा श्लोक हुआ करता है।

पाँच प्रश्नों के उत्तर में कहीं-कहीं भरतमुनि ने पौराणिक आख्यान शैली का आश्रय लेते हुए रूपक की भाषा में अपनी बात कही है। नाट्य की उत्पत्ति बताते हुए उन्होंने कहा कि त्रेता युग में जब मनुष्य समाज सुख-दुख की

भावनाओं के विवश हो चला, ग्राम्य धर्म में उसकी प्रवृत्ति होने लगी, तो इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर कहा कि हम लोग ऐसा क्रीडनीयक (खिलौना) चाहते हैं, जिसे देखा भी जा सके और सुना भी जा सके। वेदों के स्वाध्याय या अभ्यास में तो समाज के सारे लोगों की प्रवृत्ति हो नहीं सकती, अतः आप सार्ववर्णिक पंचम वेद की सृष्टि कीजिए। तब ब्रह्मा ने उनसे कहा— ऐसा ही हो, मैं नाट्य नामक पाँचवे वेद की सृष्टि इतिहास के साथ करता हूँ। उन्होंने अपना संकल्प इन शब्दों में व्यक्त किया—

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्॥
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्हम्॥

(*नाट्यशास्त्र* १/१४-१५)

फिर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीति, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस के तत्त्व से कर नाट्यवेद की सृष्टि की।

इस कथा का आशय यह है कि नाट्य भरतमुनि के शब्दावली में सार्ववर्णिक पंचम वेद है। वह कला की ऐसी सनातन धरोहर का प्रतिनिधि है जिसके द्वार सारे समाज के लिए खुले हों।

इस तरह जब पाँचवे वेद की सृष्टि हो चुकने के बाद देवताओं ने उसके प्रयोग का काम भरतमुनि को सौंपा। भरतमुनि ने नाट्यप्रयोग आरम्भ किया असुरों ने उसमें विघ्न कर दिया। तब ब्रह्मा ने असुरों को समझाते हुए जो वचन कहे, उनमें नाटक और कला के संबंध में नाट्यशास्त्र की अवधारणाएँ भी प्रकट हुईं हैं—

भवतां देवतानां च शुभाशुभविकल्पकः।
कर्मभावान्यापेक्षी नाट्यवेदो मया कृतः॥
क्वचिद्धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित् कामः क्वचिद्वधः॥
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां विनीतानां दमक्रिया।
क्लीबानां धाष्टर्यजननमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि॥
ईश्वाराणां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च।
अर्थोपजीविनामर्थो धृतिरुद्विग्नचेतसाम्।
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रन्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति॥

(*नाट्यशास्त्र,* १।१०६, १०८-११४)

(इस नाट्य में सब लोगों के शुभ व अशुभ की चिन्ता की जाती है। यह कर्म, भाव और वंश का प्रकाशक है। इसमें किसी एक के अनुभवों का निरूपण नहीं होता, तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन होता है। इसमें कहीं धर्म रहता है, तो कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, तो कहीं शम, कहीं हास्य तो कहीं युद्ध और कहीं-कहीं काम तो कहीं वध प्रदर्शित होता है। यह धर्म में प्रवृत्त लोगों के लिए धर्मस्वरूप है, काम में प्रवृत्त लोगों के लिये काम है, दुर्विनीत लोगों को अनुशासित करनेवाला है तथा विनीत लोगों के दूसरों को अनुशासन में रखने का पाठ पढ़ाने वाला भी है। यह क्लीबों में ढिढाई भर सकता है, वीरों में उत्साह का संचार कर सकता है, मूर्खों को प्रबुद्ध कर सकता है और विद्वानों में और भी विद्वत्ता ला सकता है। धनियों के लिए यह विलास है, पर दुःख से आकुल के लिए स्थिरता लाने वाला है, अर्थोपार्जन करनेवालों के लिए धन प्राप्ति का साधन है, उद्विग्न चित्तवालों के लिए धीरज दिलाने वाला है। तरह-तरह के भावों से सम्पन्न, तरह-तरह की अवस्थाओं से युक्त लोकवृत्त का अनुकरण प्रस्तुत करनेवाला नाट्य होता है। दुःख से व्याकुल, श्रम से क्लान्त, शोक से आर्त दीनों के लिए यह दिलासा बन सकेगा।)

दूसरे अध्याय में नाट्य मण्डप की संरचना, निर्माण और तीसरे में रंगदैवत पूजन की विधि बताई गई है। पाँचवें अध्याय में पूर्वरंग की विधि का निरूपण है। नाट्य के प्रयोग के पहले पूर्वरंग किया जाना चाहिए। पूर्वरंग में मंच पर सारा विश्व उपस्थित है और सारे विश्व को उसमें पूजा जाता है। इस तरह नाट्य की उत्पत्ति के मिथकीय निरूपण तथा रंगदैवतपूजन और पूर्वरंग की विधि के द्वारा भरतमुनि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नाट्य किनके लिये है। नाट्य निखिल विश्व से जुड़ जाने के लिये है।

वास्तव में पहले और दूसरे प्रश्नों में यह प्रश्न भी अन्तर्गर्भित है कि नाट्य क्या है और भरतमुनि ने इस प्रश्न का उत्तर भी नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में दिया है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से परिभाषा दें, तो कह सकते हैं कि जिस तरह कवि का कर्म काव्य है, उसी तरह नट का कर्म नाट्य है। पर उससे नाट्य का स्वरूप लक्षण नहीं बनता और न उसमें नाट्य की सारी अवधारणा ही आ पाती है, क्योंकि नाट्य की रचना में केवल नट ही नहीं, कवि और प्रेक्षक भी भागीदार होते हैं। कवि नाट्य के लिए शब्दों से एक सृष्टि करता है, नट कवि की सृष्टि को मंच पर नए सिरे से रचता है और प्रेक्षक इसे देखता हुआ अपने मानस में पुनः उसकी

सृष्टि करता है। कवि के द्वारा जो नाट्य रचा गया, वह काव्य है। नट के द्वारा अनुकरण करके जब इसे प्रस्तुत किया जाता है, तो वह नाट्य है। इस नाट्य को प्रेक्षक जब देखता है, तो इसके द्वारा देखा गया नाट्य अनुभूति या रस में परिणत होता है। अतः कवि की दृष्टि से काव्य का विवेचन भी भरतमुनि ने किया, नट की दृष्टि से नाट्यप्रयोग का और प्रेक्षक की दृष्टि से नाट्यानुभव या रस का भी।

कवि की दृष्टि से भरतमुनि ने नाट्य की उत्पत्ति के प्रसंग में ही नाट्य का लक्षण भी बताया है—त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्तन नाट्य है—त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। नट की दृष्टि से इसको इन्हीं भावों का अनुकरण कहा गया—नट आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य की चेष्टाओं से उसकी मंच पर पुनः सृष्टि करता है। दर्शक की दृष्टि से इसे अनुदर्शन या अनुव्यवसाय कहा गया। भरतमुनि ने दर्शक के अनुभव और नाट्य के द्वारा दर्शक या प्रेक्षक को होने वाले सम्प्रेषण की व्याख्या में पहले ही अध्याय में नाट्य को अनुदर्शक (१/१४) तथा दर्शक के अनुभव की प्रक्रिया को अनुदर्शन (४/४, ४/११) कहा है। भरतमुनि ने नाट्य को परिभाषित करते हुए अनुकीर्तन, अनुकरण और अनुदर्शन शब्दों का बार-बार प्रयोग किया है—

तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्याः सुरैर्जिताः॥ (*नाशा.* १/५७)
प्रीताः सर्वे समभवन् कर्मभावानुदर्शनात्।
सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति। (१/१/११७)
येनानुकरणं ह्येतन्नाट्यमेतन्मया कृतम्॥ (१/११८)

अनुकीर्तन या अनुव्याहरण, अनुकरण तथा अनुदर्शन की यह त्रिविध प्रक्रिया एक सीधी रेखा में नहीं चक्राकार रूप में नाट्य की सृष्टि में चलती है। अनुकीर्तन या अनुव्याहरण, अनुकरण और अनुदर्शन की त्रिपुटी में कलासृष्टि का सार समाया हुआ है।

भाव से आशय है लोक की विभिन्न स्थितियाँ, जीवन के सारे उतार-चढ़ाव परिस्थितियाँ। प्रायः भाव से आशय मानसिक दशा से ही लिया जाता है, पर भरतमुनि में जीवन की सम्पूर्ण स्थितियों का निरूपण भाव के अन्तर्गत आता है। भाव के साथ जीवन की विविध अवस्थाएँ और जगत् के विविध वृत्तान्त भी नाट्य की अनुकीर्तन, अनुकरण और अनुदर्शन की प्रक्रिया के विषय हैं।

नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥ (*नाशा.* १/११२)

इसी दृष्टि से आगे के आचार्यों ने भरतमुनि के नाट्य के लक्षण को परिष्कृत करते हुए कहा कि नाट्य अवस्थाओं की अनुकृति है, अवस्थाएँ जीवन की सुख-दुःखात्मक विभिन्न परिस्थितियाँ या दशाएँ हैं।

पिछले अध्याय में ऐतरेय महीदास के कलाचिन्तन के सन्दर्भ में अनुकरण की अवधारणा पर बात की गई है। भरतमुनि ने ऐतरेय द्वारा प्रतिपादित अनुकरण के तत्त्व की अन्तर्व्याप्ति नाट्यविश्व में निरूपित की।

नाट्य सामासिक कला है, उसमें कई तत्त्व विनियुक्त होते हैं। नाट्य में विनियुक्त होने वाले विभिन्न तत्त्वों का संग्रह नाट्यसंग्रह कहा गया है। नाट्यसंग्रह में ग्यारह तत्त्व हैं—रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान तथा रंग (प्रेक्षागार)। नाट्यशास्त्र के दक्षिण के संस्करण में इनमें दो तत्त्व और जोड़े गए हैं—भूमिका और प्रकृति।

नाट्यसंग्रह के इन तत्त्वों से भरतमुनि के प्रस्थान में सम्पूर्ण रंगमंच की अवधारणा बनती है। रस कवि के भीतर सर्जना की मूल अभिप्रेरणा के रूप में रहता है, उससे भाव की अभिव्यक्ति वह करता है। जीवन का समस्त अनुभव भाव है। इन भावों के अनुसार कवि अपनी रचना में पात्रों के क्रियाकलापों का निर्धारण करता है, यह अभिनय है। इस अभिनय या पात्रों के क्रियाकलाप से धर्मी या रचना का अपना स्वभाव निर्धारित होता है। उससे वृत्ति, प्रवृत्ति, सिद्धि से लेकर गान तक के दस तत्त्व रचना में गुँथते हैं। तब यह रचना या नाट्यकृति प्रेक्षागार तक पहुँचती है। अत: कवि या कलाकार की दृष्टि से रस से आरम्भ होकर प्रेक्षागार तक रचनायात्रा चलती है। इसके उल्टे अभिनेता तो प्रेक्षागार से अपनी कलासृष्टि का आरम्भ करता है। इस प्रेक्षागार या रंगमंच पर पाँव रखते ही वह आतोद्य (वाद्य), गान, स्वर और सिद्धि का संधान करता है, उनके अनुसार प्रवृत्ति, वृत्ति, धर्मी और अभिनयों की निष्पत्ति करके भाव से रस तक कला को पहुँचाता है। अत: अभिनेता की दृष्टि से इन ग्यारह तत्त्वों का विनियोग विपरीत क्रम से भी हो सकता है। इन ग्यारह या तेरह तत्त्वों के क्रम और व्युत्क्रम में होने वाली परिणतियों में सारा कला संसार समा जाता है।

नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में रस, सातवें में भाव, आठवें से पच्चीसवें तक अभिनय, इन्हीं के बीच में धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्तियाँ, बीसवें में पुन: वृत्ति, चौबीसवें में उपचार, छब्बीसवें में प्रकृति, सत्ताइसवें में सिद्धि, अट्ठाइसवें से चौंतीसवें तक स्वर, आतोद्य तथा गान और पैंतीसवें अध्याय में भूमिका का विवेचन है। रंग या प्रेक्षागार का विवेचन दूसरे और तीसरे अध्यायों में है। इस तरह नाट्य के तेरहों तत्त्वों का सांगोपांग विवेचन भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के छत्तीस अध्यायों में किया है।

कला के सर्वसमावेशी स्वरूप की बात भरतमुनि ने विश्व के कलाचिन्तन के इतिहास में सबसे पहले की और उसके सारे फलितार्थों और परिणतियों पर

विमर्श भी उन्होंने प्रस्तुत किया। नाट्य की विविधता और सर्वसमावेशी प्रकृति पर विचार करते हुए वे कहते हैं—

न शक्यमस्य नाट्यस्य गन्तुमन्तः कथञ्चन।
कस्माद् बहुत्वाच्छास्त्राणां शिल्पानामप्यनन्ततः॥ (*नाशा.* ६)
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
(*नाशा.* १।११६)

(इस नाट्य से पार नहीं पाया जा सकता। क्योंकि इसमें अनेक प्रकार के शास्त्र और शिल्प समाहित होते हैं। ऐसा कोई ज्ञान नहीं, ऐसा कोई शिल्प नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं, ऐसी कोई कला नहीं, ऐसा कोई योग नहीं और कर्म नहीं जो नाट्य में प्रस्तुत न होता हो।)

मुख्य रूप से भरतमुनि के नाट्य या कला के विवेचन में केन्द्र में अभिनेता है। अभिनेता का देह, वाणी और मन—ये तीनों नाट्यप्रयोग में माध्यम हैं। देह को भी अभिनेता दो प्रकार से रंगमंच पर व्यापारित करता है—सुकुमार रूप में और उद्धत रूप में। देह की सुकुमार वृत्ति कैशिकी है, उसकी उद्धत वृत्ति आरभटी। वाणी की वृत्ति भारती है और मन की वृत्ति सात्त्वती। इन चारों वृत्तियों से आहार्य, आंगिक, वाचिक और सात्त्विक ये चार प्रकार के अभिनय निष्पादित होते हैं। ये चार वृत्तियाँ चार प्रवृत्तियों से जन्म लेती हैं। प्रवृत्ति मनुष्य समाज के व्यवहार की विभिन्न दिशाएँ हैं। धरती पर जितने देश हैं, उन सबमें मनुष्यों की विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं, उनके आचार, विचार, रहन-सहन, चाल-चलन का लेखा-जोखा ही प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को समग्र रूप में चार कोटियों में भरतमुनि ने विभाजित किया—आवन्ती, दाक्षिणात्या, मागधी या औढ्रमागधी तथा पाञ्चाली। वास्तविक जीवन में इन चार प्रवृत्तियों से पुरुषार्थ सिद्धि नहीं होती। नाटक में जब ये प्रवृत्तियाँ पुरुषार्थसाधक व्यापार में परिणत होती है, तो वृत्तियाँ कहलाती हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं—''वृत्तिश्च पुमर्थसाधको व्यापार:।'' धर्म आदि चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए वाणी, मन और देह की चेष्टाएँ अपेक्षित हैं। देह का व्यापार भी दो प्रकार का होता है—उत्तम पात्रों का लालित्य और सौष्ठव से युक्त व्यापार तथा अधम पात्रों का उद्धत व्यापार। वाग्व्यापार से भारती, मनोव्यापार से सात्त्वती, ललित देहव्यापार से कैशिकी तथा उद्धत देहव्यापार से आरभटी वृत्ति जन्म लेती है। जीवन की ये चार प्रवृत्तियाँ और उनसे निर्मित नाट्य की चार वृत्तियाँ चार पुरुषार्थों—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष से सम्बन्धित हैं।

इन चार पुरुषार्थों से मनुष्य जीवन का सारा वृत्त बनता है। चारों पुरुषार्थ एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक के बिना दूसरा सम्भव नहीं है। उसी प्रकार नाट्य

में भी चार प्रवृत्तियाँ, उनसे निर्मित चार वृत्तियाँ और उन पर आधारित चार प्रकार के अभिनय तथा धर्मी—इनके भेदोपभेद भी परस्पर एक दूसरे से अनुषक्त हैं। जीवन की समग्र अवधारणा यहाँ है और उससे रस की अवधारणा बनती है। चार पुरुषार्थों से चार मूल रस नाट्य में निर्मित होते हैं—शृंगार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स। इन चार मूल रसों से चार अवान्तर रस बनते हैं—शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण तथा बीभत्स से भयानक। इन ग्यारह या तेरह तत्त्वों की अन्योन्याश्रयता और परस्पर सापेक्षता में नाट्य अवस्थित है। नाट्य के इन तत्त्वों का परस्पर अन्तःसंबंध इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

पुरुषार्थ	काम	धर्म	अर्थ	मोक्ष
अभिनयमाध्यम	सुकुमार स्थिति में देह	वाणी	आविद्ध स्थिति में देह	चेतना (मन)
रस	शृंगार	वीर	रौद्र	बीभत्स
अवान्तर रस	हास्य	अद्भुत	करुण	भयानक
भाव (तैंतीस भाव)				
अभिनय	आहार्य	वाचिक	आङ्गिक	सात्त्विक
वृत्ति	कैशिकी	भारती	आरभटी	सात्त्वती
प्रवृत्ति	दाक्षिणात्त्या	मागधी	पाञ्चाली	पाञ्चाली
	आवन्ती	आवन्ती	मागधी	मागधी
धर्मी		नाट्यधर्मी-लोकधर्मी		
नायक	धीरललित	धीरोदात्त	धीरोद्धत	धीरशान्त
नाट्य	सुकुमार	सुकुमार-आविद्ध	आविद्ध	सुकुमार-आविद्ध
रूपक प्रकार	नाटक, प्रकरण	नाटक, प्रकरण	भाण, व्यायोग, समवकार	नाटक प्रकरण
	वीथी, प्रहसन	वीथी, प्रहसन	ईहामृग, अंक	प्रहसन

नाट्यसंग्रह के इन सभी तत्त्वों में केन्द्रीय तत्त्व है धर्मी। धर्मी से आशय है किसी भी कला की अपनी प्रकृति या उसका अपना स्वभाव। नाट्य की दृष्टि से धर्मी दो प्रकार की कही गई है—लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। लोकधर्मी लोक की नाना अवस्थाओं को बिना किसी विकृति (रचनाकार के द्वारा अपनी ओर से कुछ जोड़े बिना) सहजरूप में प्रस्तुति है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि कला या काव्य की दो विशिष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं—लोकानुसारित्व और विचित्र योगित्व।

काव्यशास्त्र में धर्मी के इन दो रूपों के आधार पर ही स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति की अवधारणा का पल्लवन हुआ, जिस पर भामह और कुन्तक शीर्षक अध्यायों में यहाँ विस्तार से चर्चा की जाएगी।

लोकधर्म तथा नाट्यधर्मी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। किसी भी कला में दोनों ही आद्यन्त पिरोये रहते हैं, कभी लोकस्वभाव का सहज रूप सामने रहता है, रचनाकार के द्वारा उसमें अपनी ओर से जोड़ा गया रंजक तत्त्व पृष्ठभूमि में रहता है। कहीं रचनाकार की अपनी दृष्टि, इसके द्वारा संयोजित रंजनावैचित्र्य सामने रहता है और स्वभाव पृष्ठभूमि में।

इन सारे तत्त्वों की परिणति में और मूल में भी रस है। वह कला सर्जना की सारी प्रक्रिया में और कला के सारे उपादानों में परिव्याप्त है। अत: भरत कहते हैं कि रस के बिना नाट्य में कहीं कुछ भी नहीं हो सकता—'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' रस का काव्यभाषा से अन्त:संबंध बताते हुए भरतमुनि कहते हैं कि वीर, रौद्र और अद्‌भुत रसों वाले काव्य छोटे-छोटे अक्षरों में विन्यस्त होने चाहिए। बीभत्स और करुण रसों में दीर्घ अक्षरों वाले शब्दों का प्रयोग हो सकता है। वीर और रौद्र रसों में भी जब युद्ध और मुठभेड़ के दृश्य हों तो दीर्घाक्षरों का प्रयोग होना चाहिए।

शृंगार और वीर रसों वाले काव्य में रूपक तथा दीपक अलंकार और आर्या छन्द का प्रयोग अधिक हो सकता है। वीर रस की बहुलता वाले काव्य में जगती, अतिजगती तथा संकृति छन्दों का, युद्ध और सम्फेट की बहुलता होने पर उत्कृति का तथा करुण रस वाले काव्य में शक्वरी और अतिधृति छन्दों का प्रयोग अधिक हो सकता है। (१६/११५-२०)

भावों की दृष्टि से भी स्मृति, असूया, विलाप आदि की स्थितियों के चित्रण में प्लुत अक्षरों की प्रयोग अधिक होगा। अकार का स्मृति में, आकार का असूया में, हा का प्रयोग विलाप में तथा ओंकार का प्रयोग अध्ययन में होता है। भरतमुनि का अभिप्राय यहाँ यही है कि उन्होंने नमूने के तौर पर यह विवेचन किया है, कवियों और अभिनेताओं को रस और भाव के अनुरूप ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अक्षरों का प्रयोग समझना चाहिए, जिससे काव्य तथा नाट्यप्रयोग में नाट्यानुभव के लिए अनुरूप वातावरण रचा जा सके।

रस के संबंध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार भरतमुनि ने दिया—वह है रसविमर्द या रसव्यतिकर। रसविमर्द से आशय यह है कि कोई एक रस अकेला काव्य में नहीं आता; उसके साथ अन्य रस खिंचे चले आते हैं। कई रस एक साथ कविता में एक-दूसरे से होड़ बदते से आएँ, तभी कविता में आकर्षण आ जाता है। भरत कहते हैं—

न ह्येकरसजं काव्यं नैकभावैकवृत्तिकम्।
विमर्दे रागमायाति प्रयुक्तं हि प्रयत्नतः॥

नाशा. ७/११९ के पश्चात्

एक रस, एक भाव के निरूपण में ही कला का संसार चुक जाए, तो नाट्य की जिन प्रतिश्रुतियों का विवेचन भरतमुनि पहले कर चुके हैं, वे अधूरी रहेंगी। आगे चलकर आचार्यों ने रसों की सम्प्लवात्मकता की अवधारणा प्रतिपादित की है, जिस पर इस पुस्तक में वामन और अभिनवगुप्त शीर्षक अध्यायों में चर्चा की जाएगी। रसविमर्द से भरतमुनि का आशय यही है कि कविता या कला इकहरेपन से ऊपर उठकर जीवन का सर्वांगीण रूप प्रकट करे।

लोकवृत्त या वस्तु का अनुकीर्तन, अनुकरण और अनुदर्शन नाट्य कहा गया, अतः यह बताना भी आवश्यक था कि नाट्य में यह वृत्त क्या है। नाट्यशास्त्र के अध्याय १८, १९ में भरतमुनि ने वृत्त का विवेचन किया है। यह वृत्त वाणी या शब्दों में निबद्ध होता है और मंच पर इसकी प्रस्तुति वाचिक अभिनय के द्वारा की जाती है। अतः भरतमुनि के प्रस्थान में वाचिक अभिनय के अन्तर्गत शब्द का साम्राज्य समाहित है।

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता।

इसलिए वाचिक अभिनय के अन्तर्गत भरतमुनि ने साहित्य या काव्य पर भी विचार किया है।

नाट्यशास्त्र की परम्परा में रूपक या नाटक का पाठ्य अंश काव्य है। पाठ्य, गीति, अभिनय और रस इन चार तत्त्वों से नाट्य रचा जाता है। इनमें सबसे प्राथमिक तत्त्व पाठ्य ही है। इस पाठ्य में इतिवृत्त (घटना, प्रसंग, कवि के आशय का निरूपण) रहता है। इतिवृत्त की समाहिति काव्य में भलीभाँति हो सके इसके लिए छह मानक नाट्यशास्त्र की परम्परा बताती है—इष्ट अर्थ की रचना, वृत्तान्त का अनुपक्षय, प्रयोग की राग-प्राप्ति, गोपनीय वृत्तान्त का गोपन, विस्मयकर या आकर्षक वृत्तान्त का कथन और प्रकाश्य का प्रकाशन। इन छह मानकों के साथ इतिवृत्त सन्धि और सन्ध्यङ्गों के निर्वाह के साथ विन्यस्त किया जाना चाहिए। अंगों या सन्ध्यंगों से रहित काव्य प्रयोग के योग्य नहीं रहता, उसमें हीनता या कमी बनी रहती है तथा प्रेक्षक का मन उससे तृप्त नहीं होता (*नाशा.* १९/५३-५५)।

नाटक में आधिकारिक और प्रासंगिक ये दो प्रकार के वृत्त होते हैं। मुख्य कथा आधिकारिक है। उसके अनुषंग के रूप में साथ चलने वाली कथा प्रासंगिक है। इस कथा में विभिन्न घटनाओं को परस्पर जोड़ने वाले सन्धि स्थलों को सन्धि कहा जाता है। सन्धियाँ पाँच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहार। इन

पाँच संधियों के चौंसठ अंग होते हैं। इतिवृत्त का वाचिक या शब्दों से कहा जाने वाला रूप काव्य है और सन्धि तथा सन्ध्यंग इसके संरचनागत अवयव हैं।

इन पाँच संधियों में कथा पाँच अवस्थाओं से गुजरती है—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। इन पाँच अवस्थाओं से जुड़कर कथावस्तु में पाँच अर्थ प्रकृतियाँ (कथा की अपनी प्रकृति) बनती हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य—ये पाँच अर्थप्रकृतियाँ हैं। इन पाँच संधियों तथा पाँच अवस्थाओं का नाटक की संरचना में विन्यास पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा किया जाता है, जो ये हैं—विष्कम्भ, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य और अंकावतार।

वस्तु पात्र और रस के आधार पर ही नाट्य के विभिन्न प्रकार भी बनते हैं, जिन्हें दशरूपक कहा गया। नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन—ये दस रूपक हैं। इनमें से नाटक, व्यायोग, समवकार तथा डिम और ईहामृग ये पाँच प्राय: पौराणिक या ऐतिहासिक कथा पर आधारित होते हैं, शेष लोक में प्रचलित या कविकल्पित कथा पर।

नाट्य की इस सारी अवधारणा में पहली बार काव्य का भी समग्र रूप विवेचित हुआ, क्योंकि नाट्य अन्तत: काव्य ही है। भरतमुनि की वाक् की अवधारणा वैदिक मनीषियों के वाक्-तत्त्व की परम्परा में है, जिसका पहले अध्याय में विवेचन किया गया है।

कविता को लेकर भरतमुनि के द्वारा प्रस्तुत इन उपस्थापनाओं का पूरे दो हजार वर्ष के भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में संवर्धन, पल्लवन और विकास होता रहा है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विवेचन उनके काव्यबन्ध की अवधारणा में मिलता है। अक्षरों, शब्दों, लय, छन्दों के विशिष्ट विन्यास के द्वारा कविता में एक बन्ध बनता है। बन्ध का अर्थ है खास तरह की संरचना।

वृत्तेरेवं तु विविधैर्नानाछन्द:समुद्भवै:।
काव्यबन्धास्तु कर्तव्या: षट्त्रिंशल्लक्षणान्विता:॥ (१५/२३७)

काव्यबन्ध या कविता की संरचना में छत्तीस लक्षण समाए होते हैं।

भरतमुनि के इल काव्यबन्ध को लेकर ही दण्डी, वामन, कुन्तक राजशेखर आदि आचार्यों ने भणितिविशेष या वक्रोक्ति का विवेचन किया। नाट्यशास्त्र के ऊपर उद्धृत स्थल की टीका में अभिनवगुप्त कहते हैं—

बन्धो गुम्फो भणितिर्वक्रोक्तिरिति पर्याया:।

अर्थात् बन्ध, गुम्फ, भणिति और वक्रोक्ति—ये पर्याय हैं। आगे चलकर कुन्तक ने बन्ध का जो स्वरूप स्पष्ट किया है, वह सर्वथा भरतमुनि की परम्परा में है—

वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषक: ।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते॥

(वाच्य अर्थात् कविता के अर्थ और वाचक अर्थात् कविता के शब्द के सौभाग्य और लावण्य का पोषक व्यापारशाली वाक्यविन्यास बन्ध कहलाता है।) इनमें सौभाग्य प्रतिभा के संरम्भ या रचना-प्रक्रिया से आता है और लावण्य सन्निवेश या विन्यास का सौन्दर्य है। भामह और कुन्तक आदि आचार्यों ने भरतमुनि के दाय को जिस तरह वक्रोक्ति का प्रतिमान गढ़ने में विनियुक्त किया है उस पर चर्चा आगामी अध्यायों में की जाएगी।

काव्य के निम्नलिखित दोष भरतमुनि ने बताए हैं—गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत (नाट्यशा. १६।८८)। सरल शब्द के स्थान पर कठिन पर्याय रखना गूढार्थ है। जैसे दशरथ के स्थान पर अधिक नवविमान (नौ से एक ज्यादा रथ जिसके पास हों ऐसा राजा) कहना। या चन्द्रमा के लिए विधु, सोम आदि न कह कर अत्रि के नेत्रों से निकली हुई ज्योति कहना। अवर्ण्य का वर्णन अर्थान्तर है। असम्बद्ध या अपूर्ण अर्थ अर्थहीन है। असभ्य या ग्राम्य अर्थ होने पर भिन्नार्थ दोष होता है। अथवा पहले कही गई बात को बाद का कथन काट दे, तब भी भिन्नार्थ दोष कहा जाना चाहिए। अविशेष (साधारण, मामूली) का कथन एकार्थ है। जैसे कुन्द इन्दु के समान श्वेत—इसमें कुन्द और इन्दु दोनों की समानरूप से सफेद हैं। एकवाक्यता (अन्विति) का अभाव अभिप्लुतार्थ है। प्रमाणहीन कथन न्यायापेत है। वृत्त (छन्दों) का विसंगति होने पर विषम, सन्धि की त्रुटि होने पर विसन्धि तथा निरर्थक शब्द के प्रयोग से शब्दच्युत दोष होता है।

भरत के पश्चात् भामह, वामन, मम्मट आदि आचार्यों ने काव्यदोष का जो विवेचन किया, उसमें दोषों की संख्या अवश्य बढ़ती गई है, पर मूलाधार वही है, जो भरतमुनि ने निर्मित किया। मम्मट आदि आचार्यों ने दोषों का पददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष, रसदोष आदि कोटियों में विभाजन किया है। भरतमुनि के द्वारा प्रतिपादित उक्त दोषों में भी कतिपय पददोष हैं, कुछ अर्थ दोष।

दोषों के विपर्यय गुण हैं। दस दोषों की ही तरह भरतमुनि ने काव्य के दस ही गुण बताए—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस्, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति। परस्पर सम्बद्ध पदों की शिलष्टता (कसी हुई जमावट) श्लेष है। उसी को आगे चलकर अर्थश्लेष और शब्दश्लेष दो कोटियों में विभाजित भी किया गया। इस दृष्टि से भरतमुनि ने उसका वैकल्पिक लक्षण भी दिया है—विचार में गहन पर स्वभाव से स्फुट तथा सुप्रतिबद्ध अर्थ की घटना या संरचना श्लेष है (*नाशा.* १६/९८)। अभिनवगुप्त ने इसे वक्रघटना कहा है। आगे के आचार्यों ने वक्रोक्ति के विचार को जिस रूप में पल्लवित किया उसमें श्लेष की यह अवधारणा भी समाहित की गई। कहने का प्रयोजन स्वतः भासित

हो जाए, तो प्रसाद गुण होता है। अत्यधिक सायास रचना न हो, व्यर्थ का अभिधान न हो, दुर्बोध पदावली न हो, तो समता गुण होता है। वैकल्पिक लक्षण के अनुसार अलंकार तथा गुण एक-दूसरे के सदृश तथा एक-दूसरे को आभूषित करने वाले हों, तो समता गुण होता है। (१६/१००, १०१)। अभियोग (मन:समाधि या चित्त की एकाग्रता) के साथ अर्थ की विशेषता उपलक्षित हो, तो समाधि गुण होता है। वैकल्पिक लक्षण के अनुसार उपमा से प्राप्त अर्थों का संक्षेपण करने पर समाधि गुण होता है (१६/१०२-१०३)। कोई वाक्य अनेक बार कहा या सुना होने पर भी उद्वेजक न हो, तो माधुर्य गुण होता है। (१६/१०४)। समास से युक्त विचित्र तथा सानुस्वार व उदार पदों से रचना की जाए तो ओजस् गुण होता है। अथवा निन्दित या हीन शब्द और अर्थ भी मिलकर यदि उदात्त अर्थ के प्रकाशक बन जाएँ, तो ओजोगुण होता है। (१६/१०५-६) सुश्लिष्ट सन्धि वाले सुखप्रयोज्य पदों से युक्त सुकुमार अर्थ से युक्त गुण सौकुमार्य है। सिद्ध अभिधान वाली लोककर्म में व्यवस्थित कोई क्रिया (अर्थात् ऐसे कार्यकलाप जो लोक में जाने-माने व प्रमाणित हैं) काव्य में वर्णित हो, तो अर्थव्यक्ति गुण होता है। अथवा अर्थ मन में उतरता चला जाए और प्रयोग की परिकल्पना उसके साथ ही अंकित हो जाए, तो अर्थव्यक्ति गुण होता है। दिव्य भाव से युक्त शृंगार और अद्भुत रसों से योजित अनेक भावों से संयुक्त गुण उदारता है। अथवा अनेक अर्थों से विभूषित सौष्ठव युक्त सूक्त के साथ अतिविचित्र अर्थों वाला गुण उदारता है। उदार, उदारता तथा उदात्त ये तीनों नाम इसके लिए प्रयुक्त किए गए हैं। चन्द्रमा के समान मन और कान दोनों को आह्लादित करे तथा लीला आदि तत्त्वों से युक्त हो, तो वह गुण कान्ति है।

भामह, दण्डी तथा वामन इन आचार्यों ने दोषों और गुणों के नाम भरत से ही लिए हैं। लक्षणों में किंचित् विकसित स्वरूप व भेद परिलक्षित होता है।

काव्यशास्त्रीय चिन्तन के विकास की दृष्टि से भरतमुनि का काव्य लक्षण विचार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वाचिक अभिनय तथा छन्दों का निरूपण करने के पश्चात् पन्द्रहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में वे कहते हैं—

वृत्तैरेवं तु विविधैर्नानाछन्द:समन्वितैः।
काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः॥

(*नाट्यशास्त्र* १५।२२७)

विभिन्न प्रकार के छन्दों से उत्पन्न होने वाले इन विविध वृत्तों के द्वारा छत्तीस लक्षणों से युक्त काव्यबन्धन रचे जाएँ। इसके पश्चात् भरतमुनि ने नाशा. के सोलहवें अध्याय में लक्षणों का निरूपण किया है।

लक्षण क्या है? लक्षण का कोई लक्षण स्वयं भरतमुनि ने नहीं दिया। नाट्यशास्त्र के ऊपर उद्धृत श्लोक की व्याख्या में लक्षण के महत्व को रेखांकित करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं—'भित्तिस्थानीयं लक्षणयोजनम्'—अर्थात् लक्षण कविता के प्रासाद या महल की भित्ति के समान हैं। १६वें अध्याय के आरम्भ में भी अभिनवभारती में वे कहते हैं—'अलङ्कारैर्युक्तं काव्यं लक्षणैर्विना न शोभते' कविता में अलंकार होते हुए भी वह लक्षणों के बिना शोभित नहीं होती। इसके आगे कविता के राजप्रसाद के रूपक को विस्तार देते हुए अभिनव कहते हैं कि छन्दोविधि इस प्रासाद या महल की भूमि (नींव) है, नृत्तसमाश्रय इसका क्षेत्रपरिग्रह या नक्शा है, लक्षण इसकी भित्ति है, गुणालंकार इसमें चित्रकर्म हैं तथा दशरूपकविभाग इसके गवाक्ष-वातायन आदि हैं (१५।२२७ पर *अभिनव भारती*)। भरतमुनि ने लक्षण का संबंध भाव, अर्थ और रस से माना है (नाशा. १६।४०)। लक्षण वस्तुतः कविता के संरचनागत अवयव या काव्य का शरीर हैं। इस शरीर को रचने की प्रक्रिया या कविव्यापार भी काव्यलक्षण है। शब्द और अर्थ को समवाय या सहभाव से काव्य का शरीर रचा जाता है। यह सहभाव काव्यलक्षण है। लक्षण के विषय में अभिनव ने दस मतों की उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—

१. काव्य की चेतना रस है, गुण रस के धर्म हैं, अलंकार काव्य शरीर के धर्म हैं। इसी शरीर के धर्म लक्षण भी हैं। दोनों में अन्तर यह है कि शरीर में श्यामता (साँवलापन) मन्दगामिता आदि धर्म रहते हैं, वे लक्षण के समान हैं, उन्हीं धर्मों को अलंकारों के द्वारा विभूषित किया जाता है। आँखों का बड़ा होना लक्षण है, काजल लगा कर इन आँखों को और सुन्दर बना देना अलंकार है। काव्य शरीर में लक्षण और अलंकार दोनों ही अविभाज्य हैं, पर अलंकार लक्षण की अपेक्षा बाह्य तत्त्व हैं।

२. नाटक की संधियों में व्याप्त रसतत्त्व के उपयोगी वर्णनीय पदार्थ लक्षण हैं। अर्थात् रसोपयुक्त वचनावली की रचना ही लक्षण है।

३. कवि प्रतिभा जब रचना कर्म में व्यापारित होती है, तो इसकी तीन स्थितियाँ आती हैं। उन्हें अभिनवगुप्त ने परिस्पन्द कहा है। पहले परिस्पन्द में माधुर्य आदि की व्यंजक रचना उभरती है। अतएव माधुर्य आदि गुण कविप्रतिभा के प्रथम परिस्पन्द हैं। अमुक शब्द से अमुक वस्तु का वर्णन किया जाए—इस तरह शब्दों का चयन अलंकार है। यह अलंकार कविप्रतिभा का द्वितीय परिस्पन्द है। कविप्रतिभा का तृतीय परिस्पन्द लक्षण है, जिसमें कवि यह देख पाता है कि चुने गए शब्द सही-सही अर्थ का स्पर्श और संधान कर पा रहे हैं या नहीं। लक्षण के द्वारा शब्द और अर्थ का उचित संघटन या संरचना बन पाती है।

४. लक्षण कविप्रतिभा के रचनाक्षमता की अभिव्यक्ति है।

५. लक्षण प्रबंध की विषय वस्तु है।

६. कवि का जो विशेष अभिप्राय काव्य में झलकता है, वही लक्षण है।

७. गुणों और अलंकारों की समुचित योजन ही लक्षण है।

८. गुणों और अलंकारों से अलग काव्य में एक सहज सुषमा परिलक्षित होती है। इस सहज सौन्दर्य के मूल कारण लक्षण हैं।

९. लक्षण काव्य के वे मौलिक धर्म हैं, जिनके आधार पर काव्य की अन्य विधाओं से पृथक् सत्ता समझी जा सकती है।

१०. काव्यगत संरचना की व्याख्या तीन आधारों पर की जाती है—वर्णनीय, शब्दनीय और कविकर्म। इन तीनों आधारों की स्थिति भी तीन तत्त्वों पर टिकी हुई है—अभिधेय या अर्थ, अभिधान या शब्द और अभिधाशक्ति। इन तीन तत्त्वों के साथ तीन प्रकार के व्यापार संलग्न रहते हैं—शब्द व्यापार, अभिधायक कविव्यापार और प्रतिपाद्य वस्तु व्यापार। इन तीनों तत्त्वों के अनुसार ही काव्य में गुण, अलंकार व लक्षण की स्थिति समझी जानी चाहिए। शब्दों के द्वारा रसाभिव्यक्ति की क्षणता शब्दगुण है, वर्णों के परस्पर अन्त:संबंध से उत्पन्न होने वाला नादसौन्दर्य शब्दालंकार है। अर्थ बोध के माध्यम से रसाभिव्यक्ति की क्षमता होना अर्थगुण और वर्ण्य विषय या अप्रस्तुत के योग से उत्पन्न होने वाला सौन्दर्य अर्थालंकार है। लक्षण इन तीनों ही व्यापारों शब्दव्यापार, अभिधायक व्यापार और प्रतिपाद्य व्यापार से अनुस्यूत रहने वाले तत्त्व हैं। इस दृष्टि से लक्षण कविव्यापार या रचना प्रक्रिया, शब्द तथा अर्थ की प्रक्रियाओं और परिणतियों के भीतर विद्यमान रहने वाले कविता के आभ्यन्तर तत्त्व हैं। रसानुरूप शब्द, अर्थ, गुण और अलंकार सभी का सम्यक् विनियोजन ही लक्षण कहा जा सकता है।

लक्षणों के नाम परिगणना ने नाट्यशास्त्र के दो पृथक् पाठ मिलते हैं, एक पाठ में उपजाति छन्दों में लक्षणों के नाम गिनाए गए हैं, दूसरे में अनुष्टुप् छन्द में।

उपजाति परम्परा में लक्षणों के नाम इस प्रकार हैं—विभूषण, अक्षरसंहति, शोभा, अभिमान, गुणकीर्तन, प्रोत्साहन, उदाहरण, निरुक्त, गुणानुवाद, अतिशय, हेतु, सारूप्य, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि, पदोच्चय, आक्रन्द, मनोरथ, आख्यान, याच्ञा, प्रतिषेध, पृच्छा, दृष्टान्त, निर्भासन, संशय, आशी:, प्रियोक्ति, आक्रन्द, क्षमा, प्राप्ति, पश्चात्ताप, अर्थानुवृत्ति, उपपत्ति, युक्ति, कार्य, अनुनीति तथा परिदेवन।

अनुष्टुप् परम्परा में लक्षणों का परिगणन इस प्रकार है—भूषण, अक्षर-संघात, शोभा, उदाहरण, हेतु, संशय, दृष्टान्त, प्राप्ति, अभिप्राय, निदर्शन, निरुक्त, सिद्धि, विशेषण, गुणातिपात, अतिशय, तुल्यतर्क, पदोच्चय, दिष्ट, उपदिष्ट, विचार, विपर्यय, भ्रंश, अनुनय, माला, दाक्षिण्य, गर्हण, अर्थापत्ति, प्रसिद्धि, पृच्छा, सारूप्य, मनोरथ, लेश, संक्षोभ, गुणकीर्तन, अनुक्तसिद्धि तथा प्रियवचन।

दोनों परम्पराओं में निम्नलिखित १२ लक्षण एक समान हैं—शोभा, गुण-कीर्तन, हेतु, सारूप्य, अतिशय, पदोच्चय, मनोरथ, दृष्टान्त, संशय, सिद्ध, निरुक्त तथा उदाहरण। गुण-कीर्तन के लक्षण में किंचित् भेद है।

गुणानुवाद के स्थान पर अनुष्टुप् परम्परा में गुणातिपात, मिथ्याध्यवसाय के स्थान पर विक्षेप, आक्रन्दन के स्थान पर तुल्यतर्क, आख्यान के स्थान पर प्रसिद्धि, याच्ञा के स्थान पर दाक्षिण्य, प्रतिषेध के स्थान पर लेश, भासन या निर्भासन के स्थान पर माला, पश्चात्ताप के स्थान पर विचार, उपपत्ति के स्थान पर उपदिष्ट, युक्ति के स्थान पर अभिप्राय कार्य, के स्थान पर अर्थापत्ति, अनुनीति के स्थान पर प्रसिद्धि, परिवेदन के स्थान पर क्षोभ लक्षण है।

इन लक्षणों की परिकल्पना भरतमुनि ने गुणों और अलंकारों की अपेक्षा काव्य के आभ्यन्तर संरचनात्मक अवयवों के रूप में की थी। बाद के आचार्यों ने इनके गुणों या अलंकारों में समाहित कर लिया। अतएव लक्षण जो काव्यशास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय था, उसकी परम्परा आगे चलकर विच्छिन्नप्राय हो गई। तथापि इन लक्षणों की परिभाषाओं पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होगा कि किस प्रकार ये काव्यगत संरचनात्मक वैशिष्ट्य को प्रकट करते हुए परवर्ती काव्यशास्त्र में अनेक अलंकारों की परिकल्पनाओं का आधार बनते हैं।

विभूषण : काव्य का अनेक अलंकारों तथा गुणों से एक साथ अलंकृत होना।

अक्षरसंहति : शिलष्ट तथा स्वल्प अक्षरों से विचित्र अर्थ का निरूपण।

शोभा : सिद्ध या अप्रसिद्ध अर्थ से असिद्ध या अनुचित अर्थ की सिद्धि अथवा श्लक्ष्ण और विचित्र अर्थ का योग।

अभिमान : मन की अस्थिरता।

गुणकीर्तन : विचित्र अर्थ से युक्त विवरण के कारण दोषों को न गिना जाना।

प्रोत्साहन : उपमा पर आधारित स्पष्ट अर्थ वाले उत्साह जनक तथा प्रसिद्ध अर्थों से भरे वचन।

उदाहरण : एक शब्द के कथन से अनेक अनुक्त शब्दों की सिद्धि।

हेतु : अनेक लोग बोल रहे हो, तब अर्थनिर्णय के लिए सिद्ध वचन।

निरुक्त : तथ्य तथा अतथ्य की सिद्धि करना।

गुणानुवाद : उपमा के प्रयोग से हीन का उत्कृष्ट रूप में वर्णन। अनुष्टुप् परम्परा में इसका नाम गुणातिपात है। वहाँ विविध अर्थों के साथ मधुर वाक्यों में गुणों का वर्णन गुणातिपात कहा गया है, वैकल्पिक लक्षण में लक्षणा के द्वारा वस्तु के स्वरूप का प्रकाशन गुणातिपात कहा गया है।

अतिशय : पहले कही गई बात से आगे बढ़कर वर्णनीय का कुछ और रूप में वर्णन।

सारूप्य : अनुकरण के द्वारा परोक्ष रूप से एक लक्षण दूसरे पर आरोपित किया जाना। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर दृष्टि नामक लक्षण माना गया है।

मिथ्याध्यवसाय : अभूतपूर्व अर्थों से तुल्य अर्थ का निर्णय। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर विपर्यय नामक लक्षण माना गया है।

सिद्धि : अनेक प्रधान नामों के बीच अप्रधान नामों का प्रयोजनवश कथन करना।

पदोच्चय : एकार्थक पदों से अनेक गुणों का प्रकाश।

आक्रन्द : दूसरे के प्रति सादृश्य की युक्ति के साथ तीव्र अर्थ में आत्मभाव का प्रकाशन। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर तुल्यतर्क नामक लक्षण माना गया है।

मनोरथ : अन्यापेश के द्वारा हृदयगत भाव का सुस्पष्ट प्रकाशन।

आख्यान : प्रश्न या बिना प्रश्न के निर्णय करना। अन्य परम्परा में इसके स्थान पर प्रसिद्धि नामक लक्षण स्वीकृत है।

याच्ञा : आरम्भ में क्रोधजनक पर अन्त में हर्षवर्धक प्रिय वाक्य। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर दाक्षिण्य नामक लक्षण माना गया।

प्रतिषेध : किसी विपरीत कार्य में लगे पात्र को उस कार्य से रोकना। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर लेश नामक लक्षण माना गया है।

पृच्छा : इंगित (इशारे) से किसी पात्र का अपने आपसे अन्य पात्र से प्रश्न करना व उस प्रश्न के अभिप्राय को स्पष्ट करना।

दृष्टान्त : पहले से प्राप्त किसी वस्तु के लिए उदाहरण देकर समानता बताना।

निर्भासन : अनेक युक्तियों वाली तथा अनेक अर्थों को सिद्ध करने वाली वाक्यावली का प्रयोग। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर माला नामक लक्षण माना गया है।

संशय : अनेक युक्तियों से युक्त, अनेक अर्थों के साधक वाक्यों का प्रयोग।

आशीः : शास्त्रार्थ सम्पन्न, मनोरथ से उत्पन्न अप्रार्थनीय कामना की पूर्ति।

प्रियोक्ति : आरम्भ में क्रोधजनक, अन्त में हर्षवर्धक तथा आशीर्वाद समन्वित वाक्य। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर भ्रंश नामक लक्षण माना गया है।

कपट : छलपूर्वक युक्तियों का प्रयोग करके किसी को वंचित करना। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर ग्रहण नामक लक्षण मा‍ा गया है।

क्षमा : सभा में दुष्ट व्यक्ति के कथन पर क्रोध न करना।

प्राप्ति : अंग को देखकर अंगी का या अवयव को देखकर अवयवी का (खंड से सम्पूर्ण का) अनुमान। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर विशेषण नामक लक्षण माना गया है।

पश्चात्ताप : अकार्य को करने या कार्य को न कर पाने से उत्पन्न मनस्ताप। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर विचार नामक लक्षण माना गया है।

अर्थानुवृत्ति : विनय के साथ स्नेह या उदारता से दूसरे का अनुवर्तन। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर अनुनय नामक लक्षण माना गया है।

उपपत्ति : प्राप्त दोषों का पुनः शमन। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर उपदिष्ट नामक लक्षण माना गया है।

युक्ति : बड़े लोगों के द्वारा मिलकर (अभिनव के अनुसार उत्कृष्ट अंगों नेत्र वदन आदि के द्वारा मिलकर) अर्थसंबंध (अभिनव के अनुसार परस्पर शोभाजनक अनुकूलता) को सिद्ध करना। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर अभिप्राय नामक लक्षण माना गया है।

कार्य : किसी दोष का निराकरण करके उसे गुण से युक्त बताना या इसका विपर्यय। अनुष्टुप् परम्परा में इसके स्थान पर क्षोभ नामक लक्षण माना गया है।

अनुनीति : अपूर्व क्रोधजनक अपराध का मार्जन करके सेवा के लिए मधुर वाक्य कहना।

परिदेवन : अन्य के नाम से कहे गए दोषों को किसी और अर्थ से सम्बद्ध बताना।

भरतमुनि के समय लक्षण काव्यचिन्तन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रस्थान था और इसका निरूपण अनेक परम्पराओं में किया जाता रहा इसीलिए नाट्य-शास्त्र में लक्षण के भेदों और परिभाषाओं में अनेक विकल्प बताए गए हैं तथा उपजाति और अनुष्टुप् में दो सर्वथा भिन्न-भिन्न परम्पराओं का संग्रह तो नाट्य-शास्त्र में किया ही गया है।

जिस प्रकार प्रासाद के बन जाने पर उसकी नींव दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार काव्यशास्त्ररूपी प्रासाद के अपने समग्र वैभव और वैविध्य में निर्मित हो जाने पर उसकी नींवरूप लक्षण पृष्ठभूमि में चले गए या विस्मृतप्राय हो गए। भरतमुनि के बाद उनके व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने विस्तार से लक्षणों के स्वरूप पर प्रकाश डाला है और उनके विषय में अनेक मत मतान्तरों का भी विवरण दिया है। पर अन्य आचार्यों में लक्षणों का निरूपण करने वाले विरले ही हैं। केवल शृङ्गारप्रकाशकार भोज, साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ तथा नाटकक्षणरत्न-

कोशकार सागरनन्दी जैसे इने गिने आचार्य लक्षणों की चर्चा करते हैं। चन्द्रा-लोककार जयदेव लक्षणों का निरूपण तो करते हैं और उनमें लक्षण की संख्या घट कर दस ही रह गई है।

भरतमुनि ने इन छत्तीस लक्षणों का सीधा संबंध कवि की रचना प्रक्रिया से माना है, उन्होंने बार-बार कहा है कि कवि यथोचित रूप में इन छत्तीस लक्षणों का काव्य समावेश करता है।

केवल छत्तीस ही क्यों माने गए, क्या इस प्रकार के अन्य लक्षण नहीं हो सकते? इसके उत्तर में आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं—कवि की रचना प्रक्रिया अपरिसंख्य रूपों में अपने को व्यक्त करती है, पर काव्य में इसकी परिणतियाँ प्रधानता के आधार पर इन छत्तीस प्रकारों में विशेष देखी जाती हैं, अतएव इन छत्तीस लक्षणों के प्रति कवि को विशेष सावधान होना चाहिए—यह यहाँ भरतमुनि का आशय है।

नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय पर टीका के आरम्भ में ही अभिनवगुप्त ने दण्डी के मत का समर्थन करते हुए स्वीकार किया है कि परमार्थत: तो लक्षण, गुण, अलङ्कार में पारस्परिक विभाजन असम्भव ही है, तथापि कवि की रचना प्रक्रिया के आकलन के लिए एक काल्पनिक विभाजन अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। परवर्ती परम्परा में लक्षणों के अलंकारों से अन्त:संबंध पर विचार किया गया है। अभिनवगुप्त के अनुसार लक्षण काव्य शरीर है, अलंकार इसे और सुन्दर बनाते हैं (१६/४ पर *अभिनव भारती*)। दूसरी ओर अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतोत का मत है, जिसके अनुसार लक्षणों के कारण अलंकारों में सौन्दर्य आता है। उदाहरण के लिए अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में गुणानुवाद नामक लक्षण का योग होने से, अतिशयोक्ति में अतिशय का योग होने से, अप्रस्तुतप्रशंसा में मनोरथ का योग होने से, अपह्नुति में मिथ्याध्यवसाय का योग होने से, तुल्ययोगिता में सिद्धि का योग होने से सौन्दर्य बढ़ जाता है। भट्टतोत यह भी कहते हैं कि लक्षण के परस्पर संयोग से काव्य में सौन्दर्य की अनन्त सम्भावनाएँ बनती हैं तथा अलंकार जन्म लेते हैं। उदाहरण के लिए प्रतिषेध और मनोरथ के मिलन से आक्षेप अलंकार होता है।

वास्तव में तो लक्षणों को अलंकारों का मूल कहा जा सकता है। भामह और कुन्तक जैसे आचार्यों ने वक्रोक्ति के विवेचन में भरतमुनि के लक्षण सिद्धांत समाहित कर लिया है। भामह ने भी वक्रोक्ति को अलंकारों का बीज कहा था—

तदेभिरङ्गैर्भूष्यन्ते भूषणोपवनस्रजः।
वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते॥

(*काव्यालङ्कार* १/५)

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोषऽनया बिना॥

(*वही*, २/८५)

वक्रोक्ति कवि व्यापार है, लक्षण को भी अभिनवगुप्त ने अन्ततः कवि व्यापार ही माना है।

'सुकुमारचित्तवृत्तिसुभगोऽयमुत्तमश्चेत्येवं समस्तस्य गुणालङ्कार-वर्गस्यानुग्राहकमिदं कविव्यापाररूपं तद्वशाच्च शब्दार्थतद्व्यापाराद्यपि स्पृशद् विभूषणाख्यं लक्षणम्।' (*नाशा.* १६/५ पर अभिनवभारती) तथा 'तेन च परमार्थे व्यापार एव लक्षणम्।'

परवर्ती परम्परा में भरत प्रतिपादित ३६ लक्षणों में कुछ गुणों में तो कुछ अलंकारों में संक्रान्त या अन्तर्भावित हो गए। अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकार को काव्य का सर्वव्यापी साररूप तत्त्व मानकर उसी में सन्धि, सन्ध्यंग, लक्षण आदि अन्य समस्त काव्यकोटियों का अन्तर्भाव स्वीकार किया। भट्टतोत ने अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रंशसोपमा, अतिशयोक्ति, अपह्नुति, तुल्ययोगिता तथा आक्षेप जैसे अलंकारों का जन्म गुणानुवाद, अतिशय, मिथ्याध्यवसाय, सिद्धि तथा प्रतिषेध और मनोरथ जैसे लक्षणों से माना ही था। चन्द्रालोक के टीकाकार गागाभट्ट ने जयदेव के द्वारा निरूपित लक्षणों में से छह का अन्तर्भाव अलंकारों में इस प्रकार बताया है—समासोक्ति में अक्षरसंहिति का, अपह्नुति में हेतु का, तुल्ययोगगिता में प्रतिषेध का, व्यतिरेक में सिद्धि का, परिणाम में युक्ति का तथा हेत्वपह्नुति में प्रतिषेध का।

भरतमुनि ने भारतीय कलादर्शन को सुदृढ़ आधार भूमि दी और काव्य-चिन्तन के वे प्रतिमान स्थापित किए। दो हजार वर्षों के भारतीय काव्यशास्त्र की विकास यात्रा में उनका पल्लवन और परिवर्धन होता रहा है।

●

अध्याय-३

भामह

भरतमुनि के पश्चात् कला और काव्य को लेकर एक महत्वपूर्ण विमर्श विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तीसरे खण्ड में किया गया। तीसरी चौथी शताब्दी में विरचित यह पुराण नाट्यशास्त्र की ही भाँति कलाओं और काव्य के चिन्तन की दृष्टि से विश्वकोशात्मक ग्रंथ है।

पुराणों में भारतीय मेधा ने ज्ञान-विज्ञान की परम्पराओं का संकलन किया। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका कोई एक कर्ता नहीं कहा जा सकता। विष्णुधर्मोत्तर पुराण काव्य और कला को लेकर भरतमुनि के बाद हुए विचारों का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। पर भरत के बाद की शताब्दियों में भामह के पहले तक काव्यशास्त्र के जो आचार्य हुए उनमें से किसी आचार्य का ग्रंथ हमें उपलब्ध नहीं है। मेधावी जैसे आचार्यों के नाम अवश्य भामह के काव्यालंकार में प्राप्त उल्लेखों से हम जानते हैं। अत: भरत के पश्चात् लगभग छह सात शताब्दियों में काव्यचिन्तन का जो विकास हुआ उसका साक्ष्य भामह और दण्डी इन दो आचार्यों के कृतित्व से ही मिलता है।

भामह के पिता का नाम रक्रिलगोमिन् था। कुछ विद्वानों ने इन्हें इस नाम के आधार पर तथा इनकी रचना काव्यालंकार के कतिपय उल्लेखों के आधार पर बौद्ध माना है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इनके एक श्लोक (काव्यालंकार ३।२८) की बाणभट्ट की रचना में छाया देखी है। अत: आनन्दवर्धन की मान्यता के अनुसार भामह बाण (सातवीं शताब्दी) से पूर्व के हैं। भामह के प्रत्यक्ष के लक्षण पर दिङ्नाग के लक्षण का प्रभाव तो है, पर धर्मकीर्ति के लक्षण का नहीं। अत: वे दिङ्नाग के बाद और धर्मकीर्ति के पहले प्राय: छठी शताब्दी में हुए—यह कहा जा सकता है।

काव्यालंकार में भामह ने छ: परिच्छेदों तथा लगभग ४०० कारिकाओं या श्लोकों में काव्य का लक्षण, प्रयोजन, अलंकार, दोष, न्यायनिर्णय तथा शब्दशुद्धि पर विचार किया है। अपने समय के अनेक कवियों के इन्होंने नाम व उद्धरण दिए हैं। भामह ने शब्दार्थ साहित्य की अवधारणा का पल्लवन किया। इन्हें आधुनिक दृष्टि से संस्कृत काव्यशास्त्र में संरचनावादी चिंतन का पुरोधा कहा जा सकता है। शब्दार्थ संबंध पर विचार करते हुए भामह ने बौद्धों के अपोहवाद तथा वैयाकरणों के स्फोटवाद दोनों का निराकरण किया।

भामह ने काव्यालंकार के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रंथ लिखा हो ऐसी जानकारी नहीं मिलती। अपने इस लघुकाय ग्रंथ के बल पर थोड़े से समय में भामह ने एक गम्भीर और मौलिक विचारक के रूप में कुछ ऐसी प्रतिष्ठा अर्जित की कि काव्यशास्त्र के आचार्यों में अधिकांश आदर और सम्भ्रम के साथ उन्हें उद्धृत करते ही हैं, दर्शन के क्षेत्र तक में भामह की टिप्पणियों पर गम्भीर विमर्श हुआ। भामह ने अपने ग्रंथ के अन्तिम परिच्छेद में अपोहवाद का खंडन किया था। उनके कुछ ही समय बाद ७०० ई. के आस-पास बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने अपोह पर किए गए उनके खण्डनात्मक विमर्श की खबर ही नहीं ली, कड़े शब्दो में भामह के प्रतिपादन का निराकरण भी किया। यह बड़ी बात है कि एक माना हुआ दार्शनिक काव्यशास्त्र के एक आचार्य के विवेचन पर खंडन के लिए ही अपना मन्तव्य देना आवश्यक समझे। कदाचित् भामह के नाम का दबदबा उनके जीवनकाल में ही हो चुका था। अगले अध्याय में दण्डी के साथ भामह के अन्त:संबंधों के सूत्रों की गवेषणा से यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

छठी से बारहवीं शताब्दी के छह सौ वर्षों के काल में भामह की प्रतिष्ठा का एक बड़ा प्रमाण यह भी है कि उद्‌भट जैसे सचमुच में उद्‌भट आलंकारिक ने उन पर भामहविवरण नाम से टीका लिखी, जो इस काल में इस तरह समादृत हुई कि कुछ आचार्य भामह के स्थान पर भामहविवरण को उद्धृत करते हैं।

भामह में आकर अलंकारशास्त्र अपना सर्वथा मौलिक स्वरूप प्राप्त करता है। इसके पहले कविता की कोटियों पर विचार भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनुषंग के रूप में होता आया था। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में काव्य के लक्षण (काव्यसंघटना के ३६ तत्त्व), गुण, दोष और अलंकार पर विचार किया था, जिन पर पिछले अध्याय में चर्चा की गई है।

वस्तुत: भरतमुनि के पश्चात् रंगमंच से अलग कविता का कलाशास्त्र बनाने की प्रक्रिया को भामह और दण्डी इन दो आचार्यों ने जो परिणति दी, उसकी अगली कुछ शताब्दियों के सारे कला-विमर्श पर गहरा असर हुआ। इसीलिए इस अध्याय और अगले अध्याय में भामह और दण्डी के साथ उनके आस-पास के कतिपय आलंकारिकों—उद्‌भट, रुद्रट, रुय्यक विद्यानाथ आदि का भी यथावसर उल्लेख किया जा रहा है।

भरतमुनि और भामह के बीच की लगभग छह शताब्दियों में भारत की मेधा का अप्रतिम समुन्मेष और विकास हुआ। शास्त्र परम्पराएँ पनपीं, चिन्तन के नए वातायन खुले। षट्दर्शन अपने पूर्ण प्रकर्ष के साथ शास्त्रों के संसार में उपस्थित थे, उनके समानान्तर बौद्ध और जैन दर्शनों में भी नए प्रस्थान और विचारों के आयाम रचे जा रहे थे। इन शास्त्र परम्पराओं में अनेक ऐसी थीं,

जिन्होंने कविता और कला के लिए अपने विचारकोश में कोई स्थान नहीं रखा था, वे एक तरह से कला और साहित्य का विरोध भी करती थीं। धर्मशास्त्र का वर्चस्व तो था ही, जहाँ रण्डागीतानि काव्यानि—जैसे काव्य की निन्दा और उपहास करने वाले कथन उदाहृत होते थे। भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक के आचार्यों में शास्त्रीय चिन्तन के प्रकर्ष और धर्मशास्त्र के रूढिग्रस्त दृष्टिकोण के आगे कविता को प्रतिष्ठित करने की चुनौती थी। ये सभी आचार्य अपने-अपने ढंग से कविता का शास्त्र रचते हुए इतर शास्त्र परम्पराओं को प्रत्युत्तर भी देते लगते हैं और उनके प्रतिरोध के चलते कविता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। भामह ने तो अपने काव्यालंकार के आरम्भ में ही इस प्रतिरोध पर प्रतिक्रिया सी दी है और काव्य का माहात्म्य भी इसी दृष्टि से किया है—

विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता॥
गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥

(*काव्यालंकार*, १/४.५)

(विनय के बिना लक्ष्मी कैसी और चन्द्रमा के बिना रात कैसी? अच्छी कविता के बिना वाणी की विदग्धता भी कैसी?)

(गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़मति वाले भी कर सकते हैं, पर काव्य तो किसी-किसी प्रतिभा वाले से ही जन्म लेता है।)

यहाँ भामह इंगित से शास्त्र को काव्य के मुकाबले हलका भी बताना चाह रहे हैं।

दूसरी ओर नाट्यकला को लेकर भरतमुनि ने जो विवेचन किया था, उसके आगे कविता का एक सर्वांगपूर्ण शास्त्र खड़ा करने की चुनौती भी भामह के आगे थी। वे नाट्यकला और रंगमंच की चर्चा नहीं करते, पर नाट्यशास्त्र के मानक को ध्यान में बराबर रखते हैं। भरतमुनि ने नाट्य का माहात्म्य बताते हुए कहा था कि ऐसा कई ज्ञान, ऐसा कोई शिल्प, ऐसी कोई विद्या, ऐसी कोई कला, ऐसा कोई योग और ऐसा कोई कर्म नहीं है, जो इस नाट्य में न दिखाई दे (पिछले अध्याय में उद्धृत)। भामह ने नाट्यशास्त्र की इस कारिका को काव्य के विषय में लागू करते हुए यह लिखा—

न स शब्दो न तद् वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः।

(*काव्यालंकार*, ५।४)

(ऐसा कोई शब्द, ऐसा कोई वाच्य, ऐसा कोई न्याय तथा ऐसी कोई कला नहीं है, जो काव्य का अंग न बनती हो, अहो, कवि का कितना बड़ा दायित्व है।)

भामह के द्वारा ही काव्य की विधाओं पर भी व्यवस्थित चर्चा का उपक्रम हुआ। विषयवस्तु की दृष्टि से उन्होंने काव्य के निम्नलिखित प्रकार बताए— वृत्तदेवादिचरितशंसी, उत्पाद्यवस्तु, कलाश्रय तथा शास्त्राश्रय। पहले प्रकार में सुविदित कथा होती है, दूसरे में कविकल्पित। विधाओं की दृष्टि से उन्होंने काव्य के फिर पाँच प्रकार निरूपित किए—सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयार्थ (रूपक तथा उपरूपक), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध (मुक्तक)। इन सब विधाओं में नाटक के समान प्रतिष्ठा यदि किसी विधा को मिल सकती थी, तो वह महाकाव्य था। जिस तरह काव्य का प्रथम सुव्यवस्थित लक्षण देने का क्षेय भामह को दिया जा सकता है, उसी तरह इनका महाकाव्य का लक्षण भी महत्वपूर्ण है। भामह ने महाकाव्य के लक्षण में कहा है—युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्॥ (*काव्यालंकार,* १।२१)। उन्होंने महाकाव्य के लक्षण में जो नई बात जोड़ी, वह है—महतां च महच्च यत्—महाकाव्य महान् चरित्र प्रस्तुत करता है और स्वयं भी महान् हुआ करता है। इसके द्वारा महाकाव्य में उदात्तता और गौरव की प्रतिष्ठा भामह ने मानी है। भरतमुनि ने जो सौन्दर्यशास्त्र रचा, वह मुख्य रूप से दृश्य काव्य के लिये था। श्रव्य काव्य के लिए उसे यथावत् लागू नहीं किया जा सकता था। अतः भामह ने श्रव्यकाव्य का सौन्दर्यशास्त्र रचते हुए काव्य के तत्त्वों में अलंकार को और काव्यविधाओं में महाकाव्य को प्रधान रूप से प्रतिष्ठित किया तथा भरत के द्वारा काव्य के सन्दर्भ में निरूपित तीन कोटियों—दोष, गुण तथा अलंकार को विस्तृत और नया परिप्रेक्ष्य दिया।

भामह के पहले मेधावी नाम के आचार्य हो चुके थे। उन्होंने अलंकारों का विवेचन किया था, उनका उल्लेख भामह ने किया है। पर उस पूरे विवेचन में अपने स्वयं के सुचिन्तित मन्तव्य और काव्य कोटियाँ जोड़ते हुए भामह ने ही काव्यशास्त्र को प्रतिष्ठित किया—इस तथ्य को लेकर भामह स्वयं सचेत लगते हैं। अपने दायित्व और अवदान को स्वयं रेखांकित करते हुए वे कहते हैं—

इति निगदितास्तास्ता वाचामलङ्कृतयो मया।
बहुविधकृतीर्दृष्ट्वाऽन्येषां स्वयं परितर्क्य च॥ (५/६९)

(अपने से पहले की अनेक कृतियाँ देखकर और स्वयं तर्क विचार करके कविता के ये अलंकार मैंने प्रतिपादित किए हैं।) काव्यालंकार के अन्त में वे कहते हैं—

अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यवर्त्म।
सुजनावगमाय भामहेन रचितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्॥
(६/६४)

(श्रेष्ठ कवियों के मतों का अवलोकन करके तथा अपनी बुद्धि से कविता का मार्ग समझकर सुजनों के अवबोध के लिए रक्रिलगोमि के पुत्र भामह ने यह ग्रंथ रचा)।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के समानान्तर कविता का अपना शास्त्र खड़ा करने का संरम्भ भामह के पहले उपक्रान्त था। भामह ने उसे एक परिणति दी। इस संरम्भ में कविता की इतर कलाओं के बरक्स अपनी पहचान और काव्य-सौन्दर्य के उपादानों की खोज हुई। नाट्यप्रयोग की दृष्टि से रस का विवेचन भरतमुनि ने किया था, नाट्यप्रयोग में प्रस्तुति दृश्यकाव्य की होती है, अत: काव्य के गुण, दोष और अलंकारों का भी विवेचन उन्होंने किया था। पर अलंकार का निरूपण भरतमुनि में अत्यन्त गौण और क्षीण है। कुल चार ही अलंकार उन्होंने बताए। ये अलंकार भी काव्य के ३६ लक्षणों की तुलना में काव्य के बाह्य उपादान ही माने गए। नाट्यशास्त्र के अत्यन्त प्रौढ़ और समृद्ध कला विवेचन को काव्य के सन्दर्भ में जब भामह ने लागू किया, तो भरतमुनि के प्रस्थान को उलट दिया। यहाँ अलंकार काव्यसौन्दर्य का पर्याय और काव्य का सर्वस्व बन गया। रस को स्वीकार किया गया, पर अलंकार के भीतर एक कोटि के रूप में ही।

भामह ने अलंकार को काव्य में सर्वोपरि स्थान देते हुए उसके आधार पर कविता की मीमांसा का पथ प्रशस्त किया। शब्द और अर्थ से काव्य की संरचना निर्मित होती है। इसलिए काव्य में सौन्दर्य भी शब्द और अर्थ दोनों का सम्मिलित होना चाहिए। भामह की दृष्टि में काव्यसौन्दर्य का पर्याय है अलंकार। उस काव्यसौन्दर्य के घटक क्या हैं, इस पर विचार करते हुए उन्होंने कहा—

रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदित:।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।
रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।
तदेतदाहु: सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु न:।
शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्॥ (*काव्यालङ्कार,* १।१३-१६)

भामह का यह विवेचन काव्यसौन्दर्य के विमर्श में सुव्यवस्थित सरणि प्रस्तुत करता है और इसीलिए इसे मम्मट जैसे आचार्य ने पूरा उद्धृत किया है। भामह का आशय यह है कि काव्य की संरचना शब्द और अर्थ से बनती है।

उसमें सौन्दर्य भी शब्द और अर्थ दोनों का समानरूप से होना चाहिए। शब्द और अर्थ दोनों के सौन्दर्य का सहित होना ही साहित्य है। भामह के इसी साहित्य विमर्श को वामन और कुन्तक जैसे आचार्यों ने विस्तार देते हुए संरचनात्मक काव्यशास्त्र को समग्र और परिमार्जित रूप प्रदान किया।

ऊभयविध सौन्दर्य काव्य की सम्पूर्ण संरचना में व्याप्त होता है और यह काव्य में असाधारणता भी ला देता है। इस असाधारणता का कारण वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति होती है, अतएव सारे अलंकारों का भी बीज वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति है।

काव्य के दो पक्ष हैं—वक्रता और स्वभाव। कवि कथ्य से सहजरूप में कहता है, तो स्वाभावोक्ति होती है। इसी में वह कल्पना से कुछ और जोड़ता है, तो वक्रता हो जाती है। अनिबद्ध या मुक्तक काव्य के लक्षण में भामह ने कहते हैं कि मुक्तक में वक्रोक्ति भी रहती है और स्वभावोक्ति भी—युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते॥ (१/३०)

भामह वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं, स्वभोक्ति को भी अनिवार्य मानते हैं, पर वार्ता का प्रत्याख्यान करते हैं। वार्ता अर्थात् लौकिक जीवन से संबंधित खबर या सूचना भर कविता नहीं हो सकती।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥

(*काव्यालंकार,* २/८७)

(सूरज डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी बसेरे की ओर लौट रहे हैं—इन सब कथनों में कविता क्या है? यह तो वार्ता कही जाती है।)

अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा
आक्रोशयन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डलै रुदन्।
गाः कालयति दण्डेन डिम्भः शस्यावतारिणीः॥

(किसी पदार्थ की अपनी सहज अवस्था स्वभाव है। जैसे-चीखता हुआ, पुकारता हुआ, दौड़ लगाता हुआ, चक्र काटता हुआ, रो पड़ता हुआ छोकरा खेत में उतर गईं गायों को भगा रहा है।)

वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए भामह कहते हैं—

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया ...॥

(*काव्यालंकार,* २/८१)

काव्य में जब किसी विशेष कारण से लोकातिक्रान्तगोचर या सामान्य का अतिक्रमण करने वाला असाधारण वचन होता है, तो वह अतिशयोक्ति कहलाता है। यह अतिशयोक्ति गुणों के प्रकर्ष के कारण आती है।

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत्तां यथागमम्॥ (*काव्यालंकार*, २/८४)

इसी को भामह ने वक्रोक्ति भी कहा। कविता में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति सर्वत्र होनी ही चाहिए, क्योंकि कविता का सारा वैभव, वैलक्षण्य, असाधारणता और उदात्तता उसी में प्रतिष्ठित है। उसके बिना अलंकार अलंकार नहीं रह जाते। वक्रोक्ति अलंकारों का आधान और निर्माण करती है।

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते।

काव्यालंकार : भामह, १/३०

वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृतिः। वही, १/३६

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया बिना॥

वही, २/८५

भामह का यही पूरा विमर्श संरचनावादी तथा तार्किक आधार भित्ति पर प्रतिष्ठित है। भामह की तार्किक पृष्ठभूमि का ही यह परिणाम है कि उन्होंने प्रतिज्ञा हेतु, दृष्टान्त आदि न्यायशास्त्र की कोटियों का विवरण देकर उनके उल्लंघन से काव्य में होने वाले दोषों का भी निरूपण किया है। तथापि शास्त्र और काव्य में अन्तर यही है कि आगम या शास्त्र में तत्त्वदर्शन होता है, काव्य इस संसार में प्रतिष्ठित है, लोक पर आश्रित है—तत्र लोकाश्रयं काव्यमाग-मास्तत्त्वदर्शिनः। (५/३३)

भरतमुनि ने कुल चार अलंकार बताए थे—उपमा, रूपक, यमक तथा दीपक। भरत और भामह के बीच जिन आचार्यों ने अलंकारों पर विचार किया, उनके ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, केवल विष्णुधर्मोत्तरपुराण इन दोनों के बीच की एक कड़ी के रूप में सामने आता है। इसके चौदहवें अध्याय में निम्नलिखित अलंकारों के लक्षण दिए गए हैं—अनुप्रास, यमक, रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, स्वभावोक्ति, यथासंख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शन, अनन्वय।

भामह ने निम्नलिखित ३८ अलंकारों का विवेचन किया है—

अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, उपमा,

आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति।

यथासंख्य, उत्प्रेक्षा तथा स्वभावोक्ति

प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त तथा श्लेष।

अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक, आशीः।

इनमें से तृतीय परिच्छेद में भामह ने निम्नलिखित अलंकार बताए हैं— प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित तथा उदात्त। प्रेम आदि भावों की अभिव्यक्ति प्रेयस् है। रसों की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति होने पर रसवत् अलंकार होता है। भावों की ऊर्जस्विता की अभिव्यक्ति में ऊर्जस्वी अलंकार होता है तथा भावों के शमन में समाहित। किसी बात को अन्य प्रकार से (व्यंजना में) कहा जाए, तो पर्यायोक्त अलंकार होता है। महापुरुष के महनीय चरित के निरूपण में अथवा वस्तु की समृद्धि के निरूपण में उदात्त अलंकार होता है।

इन सभी अलंकारों के निरूपण में भामह ने जो उदाहरण दिए हैं, वे अलंकार की कविता में अन्तर्व्याप्ति और महाकाव्य आदि के पूरे विस्तार में उसके निर्वाह के सूचक हैं।

भाविक के लक्षण में भामह ने सबसे पहले यही कहा कि यह पूरे प्रबंध या एक समूची कृति का गुण है। इसमें अतीत और अनागत वृत्तांत प्रत्यक्ष जैसे दिखते हैं।

भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इन दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥ (*काव्यालंकार,* ३/५३)

इससे आगे जाकर भामह ने उन तत्त्वों का भी विवेचन किया जो भाविक अलंकार को किसी कृति में संभाव्य बनाते हैं। ये गुण हैं—विचित्र, उदात्त और अद्‌भुत वृत्तांतों का समावेश, कथा की नाटकीयता और शब्दों की अनाकुलता—

चित्रोदात्ताद्‌भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते॥ (*वही,* ३/५४)

विचित्र, उदात्त तथा अद्‌भुत वृत्तांत किसी पूरे प्रबंध जैसे महाकाव्य या उपन्यास आदि में ही हो सकते हैं, मुक्तक में नहीं। कथा की नाटकीयता से भी आशय यही है कि प्रबंध के सारे निरूपण को इस तरह का होना चाहिए कि पाठक उसे अपने सामने घटता देखे और इसके लिए शब्द तो सुचिंतित और सुव्यवस्थापित रूप में ही प्रयुक्त होंगे।

भरतमुनि ने काव्य के दस दोष बताए थे—गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसन्धि तथा शब्दच्युत। पर उनके शास्त्र में दोष विवेचन अभिनेता के द्वारा काव्य (दृश्यकाव्य) को मंच पर की जाने वाली प्रस्तुति में उच्चारण आदि में होने वाले दोषों पर अधिक केन्द्रित रहा। भामह ने दोषों को व्यापक धरातल पर देखते हुए इन्हें काव्य-रचना प्रक्रिया में होने वाले स्खलन तथा काव्य की संरचना में हुई त्रुटि या अपूर्णता से सम्बद्ध किया। प्रथम परिच्छेद में उन्होंने ये दोष बताए हैं—नेयार्थ (अर्थ की खींचातानी करके निकालने की आवश्यकता होना), क्लिष्ट (अर्थ का दुर्बोध्य होना),

अन्यार्थ (कुछ और ही अर्थ निकलना), अवाचक (जो कहा जाना है उस अर्थ का बोध न होना), अयुक्तिमत् (अर्थ या युक्तिसमंगत न होना) तथा गूढशब्दाभिधान। ये सभी प्रबंध या पूरी कविता में अर्थ के संबंधित स्खलन हैं। आगे श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट तथा कल्पनादुष्ट ये तीन दोष भी कवि की अभिव्यक्ति में होने वाली विसंगतियों पर आधारित हैं।

चतुर्थ परिच्छेद में अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट तथा भिन्नवृत्त और विसन्धि ये दोष मुख्यरूप से व्याकरण और छन्द शास्त्र से संबंधित होते हुए भी कविता में तार्किकता और युक्ति के उल्लंघन से भी जुड़े हुए हैं। इसके आगे देशविरोध, कालविरोध, कलाविरोध, लोकविरोध, न्यायविरोध तथा आगमविरोध—इन दोषों के विवेचन के द्वारा भामह ने कविता की प्रतिबद्धताओं और प्रतिश्रुतियों को भी निरूपित कर दिया है और पंचम परिच्छेद में उन्होंने प्रतिज्ञा, हेतु आदि न्यायदर्शन की कोटियों पर आधारित दोषों की परिकल्पना प्रस्तुत की है।

इस प्रकार भरत के दस गुणों का जो विस्तार भामह ने अपने काव्यगुण विचार में किया, उससे काव्यसमीक्षा और काव्यशास्त्र के व्यवस्थापन का पथ-प्रशस्त हुआ। वस्तुतः भरतमुनि के पश्चात् काव्यशास्त्र की सुदृढ़ आधारभित्ति के समर्थ शिल्पी हैं।

•

अध्याय-४

दण्डी

दण्डी के संबंध में जल्हण की सूक्तिमुक्तावली तथा शाङ्गर्धर की शाङ्गर्धरपद्धति में एक पद्य उद्धृत है, जिसमें कहा गया है कि जिस प्रकार तीन अग्नियाँ हैं, तीन वेद हैं, तीन देव हैं तथा तीन गुण हैं, उसी प्रकार दण्डी के तीन प्रबंध तीनों लोकों में विख्यात हैं—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥

दण्डी की इन तीन रचनाओं में काव्यादर्श काव्यशास्त्र का अत्यन्त महनीय ग्रंथ है। इन्हीं दण्डी ने दशकुमारचरित नाम से गद्यकाव्य भी लिखा था यह माना जाता है। उनकी तीसरी रचना के संबंध में ऐकमत्य नहीं है।

दण्डी एक ऐसे आचार्य हैं, जिनका प्रभाव भोज जैसे आलंकारिकों पर ही नहीं, सुदूर दक्षिण में सिंहल तक के काव्य विचारकों पर पड़ा। सिंहली भाषा में नवम शताब्दी में सिय-वस-लकर (स्वभाषालंकार) नामक ग्रंथ पूरा का पूरा दण्डी के काव्यादर्श पर आधारित है। नवीं शताब्दी में कन्नड़ भाषा में कविराजमार्ग नामक काव्यशास्त्र के ग्रंथ की रचना राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष ने की, जिसके अनेक उदाहरण दण्डी के काव्यादर्श के अक्षरशः अनुवाद हैं। काव्यादर्श पर अनेक टीकाएँ प्राचीन काल में लिखीं गईं।

भामह और दण्डी—इन दोनों में से कौन पूर्ववर्ती है और कौन परवर्ती—इस सवाल को लेकर आधुनिक विद्वानों में मतभेद हैं। इतना अवश्य माना जा सकता है ये दोनों छठी सातवीं शताब्दी के आस-पास के हैं। दण्डी के टीकाकार तरुण वाचस्पति तो यही मानते हैं कि दण्डी ने कतिपय प्रकरणों पर भामह की आलोचना की है और उनसे अहमति प्रकट की है। एक अन्य टीकाकार रत्नश्री ज्ञान ने भी यह माना की दण्डी ने अपने काव्यादर्श में दस स्थलों पर भामह की समीक्षा की है।

भामह और दण्डी के बीच शास्त्रार्थ और विवाद की जड़ें काल की दृष्टि से उनके बहुत नैकट्य में होनी चाहिए। यह हो सकता है कि दोनों समकालीन रहे हों। भामह कदाचित् एक मान्य आचार्य और विचारक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके होंगे, जब दण्डी अलंकारशास्त्र के क्षितिज पर नए नक्षत्र के रूप में उभर

रहे होंगे। ऐसे में दण्डी बिना भामह का नाम लिए उनकी मान्यताओं पर तीखी टिप्पणियाँ करते हुए प्रश्नचिह्न लगाएँ यह स्वाभाविक था।

भामह का काव्य का लक्षण संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्य-चिन्तन का एक पड़ाव है। दण्डी का काव्यलक्षण भी उसी तरह एक प्रस्थान रचता है। काव्य का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा—'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' अर्थात् इष्ट अर्थ से व्यवच्छिन्न पदावली काव्य का शरीर है। कविता की संरचनापरक दृष्टि इस लक्षण में उभरती है। इष्ट अर्थ से आशय रमणीय या सुन्दर अर्थ से है। इस लक्षण की जो परम्परा संस्कृत के आचार्यों में बनी, वह सत्रहवीं शताब्दी में पाण्डितराज जगन्नाथ तक अनुगुंजित हुई है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि दण्डी भामह के सम्पूर्ण काव्यचिन्तन को नए आयाम देते हैं। अलंकार को काव्य का मूल तत्त्व या सर्वस्व वे भी स्वीकार करते हैं, पर अलंकारों के विश्लेषण में उनका बल रीति और गुण पर है, जो अधिक आभ्यन्तर अलंकार कहे जा सकते हैं। रीति और गुण की अवधारणा को भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित बन्ध के तत्त्व से जोड़कर उन्होंने वामन के रीतिविवेचन के लिए सुपुष्ट आधार प्रस्तुत कर दिया।

अलंकार काव्य में सौन्दर्य का आधान करने वाले धर्म हैं—'काव्यशोभा-करान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।' अलंकार वाणी के अनन्त विकल्प रचते हैं, उनकी सम्भावना कभी चुकती नहीं। इस बात को दण्डी के शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया गया—'ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।'

इन्हीं अलंकारों में गुण भी समाविष्ट हैं। दण्डी ने भामह के तीन गुणों के स्थान पर भरत के द्वारा निरूपित दस गुण स्वीकार किए, क्योंकि इनके द्वारा काव्य की संरचना का समग्र रूप में अवबोध हो जाता है।

भरतमुनि के पश्चात् बन्ध की बात सबसे पहले दण्डी ने की। उन्होंने गुणों के सन्दर्भ में बन्ध की चर्चा उठाई और इस दृष्टि से बन्ध को परिभाषित करते हुए उसे वर्णविन्यास का मूल माना—बन्धाः वर्णविन्यासयोनयः। (काव्यादर्श १/४७)। काव्यगुणों में बन्ध ऋजु, स्फुट और मध्यम—तीन प्रकार का हो सकता है। समता गण का लक्षण करते हुए दण्डी ने कहा कि बन्ध की अविषमता समता है।

दण्डी ने रीति के स्थान पर मार्ग शब्द का भी प्रयोग किया है। अलंकारों में कुछ ऐसे हैं, जो मार्गों के विभाजन के आधार बनते हैं। दण्डी मानते हैं कि मार्ग तो अनन्त हैं, हर कवि का अपना मार्ग होता है—तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः। (१/१०१) पश्चिम के कलाचिन्तन में शैली (style) को लेकर जो मान्यताएँ प्रस्तुत की गईं, उनका पूर्वाभास दण्डी में मिलता है। माधुर्य गुण के विवेचन में वे कहते हैं—हर कवि की रचना का अपना माधुर्य

होता है। जिस तरह गन्ने, गुड़ और खीर में मिठास होती है पर अलग-अलग तरह की।

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यास्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते॥ (१/१०२)

यद्यपि दण्डी स्पष्ट कहते हैं कि प्रत्येक कवि की अपनी रीति हो सकती है और इस दृष्टि से तो रीतियों का विभाजन करना ही असम्भव है—तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिता:—तथापि उन्होंने अपने समय की साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर वैदर्भी और गौडी ये रीतियों के प्रकार स्वीकार किए। इन रीतियों में निम्नलिखित दस गुण व्यक्त होते हैं—

श्लेषः प्रसादः समता, माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज:कान्तिसमाधयः ।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

(*काव्यालङ्कार,* १४१.४२)

बन्ध या वर्णविन्यास की अशिथिलता (कसावट) श्लेष है। सुस्पष्ट शब्दों का प्रयोग प्रसाद है। बन्ध की अविषमता समता है। अनिष्ठुर अक्षरों का प्रयोग सुकुमारता है। अर्थ की बिना अध्याहार (खींचातानी) के कल्पना हो जाना अर्थव्यक्ति है। अर्थ के प्रकर्ष की प्रतीति होना उदार है। विकल्प से प्रशस्य विशेषणों से युक्त होना उदार है। रस से युक्त वचनों का विन्यास माधुर्य गुण है। समासबहुल विन्यास ओजस् गुण है। लौकिक अर्थ का अतिक्रमण किए बिना कान्त या प्रिय वचनों का विन्यास कान्ति गुण है। अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर सम्यक् आधान समाधि गुण है। दण्डी ने इसे काव्यसर्वस्व कहा है तथा माना है कि सारे कवि इसका अनुवर्तन करते हैं। (*काव्यालङ्कार,* १/१००)

ये गुण मार्ग का विभाजन करते हैं, कविरीतियों का निर्माण इनसे होता है। इन्हीं से अन्य अलंकार भी रचे जाते हैं जिन्हें दण्डी ने साधारण अलंकार कहा है।

भामह ने जो शब्दालंकार और अर्थालंकार बताए थे, उनमें किंचित् परिवर्तन और परिवर्धन के साथ दण्डी ने कुल ३८ अलंकारों को स्वीकृत किया। दण्डी के द्वारा स्वीकृत शब्दालंकार और अर्थालंकार ये हैं—अनुप्रास, यमक, स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, अर्थावृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश या लव, क्रम या यथासंख्य, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी:, सङ्कीर्ण तथा भाविक और चित्र।

दण्डी की दृष्टि से अलंकार कविता का आन्तरिक और अविभाज्य तत्त्व है, वह काव्य का धर्म है, बाहरी अलंकरण या हार, कटक, कुण्डल की भाँति कविता की काया का आभरण नहीं। कुल मिलाकर कविता की हर कोटि जो उसके सौन्दर्य का पर्याय बनती है या सौन्दर्य की अभिवृद्धि करती है अलंकार है। अतएव भरतमुनि के द्वारा बताए गए सन्धि-सन्ध्यंग, लक्षण आदि भी अलंकार ही हैं—

यच्च सन्ध्यङ्गवृत्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव नः॥ (*काव्यादर्श*, २/३६७)

दण्डी ने दो प्रकार के अलंकार निरूपित किए—एक तो वे जिनके कारण कविता में रीतियाँ या मार्ग निर्मित होते हैं और मार्गों का विभाजन होता है, दूसरे साधारण अलंकार जो सभी तरह के काव्यों में समानरूप से रह सकते हैं।

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागलङ्क्रियाः।
साधारणमलङ्कारजातमत्र प्रकाश्यते॥ (२/३)

पहले अलंकारों में गुण समाविष्ट हैं। दूसरी कोटि के अलंकारों को साधारण अलंकार कहा गया। साधारण अलंकार से आशय हीनकोटि होने से नहीं है। वस्तुतः ये अलंकार कविता में सर्वसामान्य रूप से रहकर उसे उदात्तता और गहनता देते हैं। इन्हीं साधारण अलकारों में दण्डी ने उदात्त और प्रेयस् तथा रसवत् जैसे अलंकारों का भी निरूपण किया है। स्वभावोक्ति भी इन्हीं में है, जिसे दण्डी आद्या अलङ्कृति कहते हैं। दण्डी ने इन साधारण अलंकारों की व्याप्ति कविता में दिखाते हुए अलंकार तत्त्व को कविता की अन्तर्वस्तु के अंग के रूप में प्रतिष्ठा दी।

स्वभावोक्ति या जाति अलंकार को' दण्डी ने आद्य (सर्वप्रथम या श्रेष्ठ) अलंकार कहा। भामह ने स्वभावोक्ति का संक्षेप में निरूपण किया था, पर 'केचित् प्रचक्षते'—कुछ आचार्य इसे मानते हैं—यह कहकर यह भी संकेत कर दिया था कि स्वभावोक्ति को लेकर असहमति हो सकती है। दण्डी ने स्वभाव के कथन को न केवल एक अलंकार माना, अलंकारों में इसे सर्वप्रथम और श्रेष्ठ कहकर कविप्रतिभा की सहज अनाविल अभिव्यक्ति को काव्यरचना में स्थान दिया। उपमा के लक्षण में भी दण्डी ने उद्भावना या कविकल्पना को महत्व दिया—यथाकथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते। उपमा नाम सा (*काव्यालङ्कार*, २/१४)

दण्डी ने जिन्हें साधारण अलंकार कहा, वे एक अर्थ में कविता की असाधारणता के कारण बन जाते हैं। उदाहरण के लिए आक्षेप अलंकार के विवेचन में वे कहते हैं कि आक्षेप्यभेद से इस अलंकार के अनन्त भेद हो सकते

हैं (काव्यादर्श २/१२)। आक्षेप अलंकार व्यंजना पर आधारित अलंकारों में से एक है। इस अलंकार के विवेचन में दण्डी ने आनन्दवर्धन के ध्वनि तत्त्व के विमर्श की पूर्वपीठिका ही प्रस्तुत कर दी है। दण्डी द्वारा प्रतिपादित धर्माक्षेप, धर्म्याक्षेप, कारणाक्षेप, कार्याक्षेप, अनुज्ञाक्षेप, प्रभुत्वाक्षेप, अनादराक्षेप, आशीर्वचनाक्षेप, परुषाक्षेप, साचिव्याक्षेप, यत्नाक्षेप, परवशाक्षेप, उपायाक्षेप, रोषाक्षेप, मूर्च्छाक्षेप, अनुशयाक्षेप, संशयाक्षेप, अर्थान्तराक्षेप, हेत्वाक्षेप आदि भेदों के द्वारा वस्तुध्वनि का वृत्त आक्षेप अलंकार में आ जाता है।

अतिशयोक्ति को भी इन्हीं साधारण अलंकारों में दण्डी ने परिगणित किया है। लोकसीमातिवर्तिनी विवक्षा अतिशयोक्ति है। अतिशयोक्ति कविता में अलंकारों की एक शृंखला रच सकती है, दण्डी इसे वाणी के ईश्वर के द्वारा महनीय बना दी गई उक्ति कहते हैं।

> विवक्षाया विशेषस्यालोकसीमातिवर्तिनी।
> असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा॥ (२/२१४)
> अलङ्कारान्तराणामप्येनमाहुः परायणाम्।
> वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥ (२/२२०)

रस को वे अलंकारों के अन्तर्गत ही मानते हैं। अलंकारों के कारण ही काव्यार्थ रस से युक्त बनताहै—कामं सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति (१/६२)। गुणों में रस समाहित है। माधुर्य गुण का लक्षण करते हुए दण्डी कहते हैं—

> मधुरं रसवद् वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
> येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ (१/५१)

माधुर्य या मधुर गुण रसयुक्त वचन में रहता है। इस दृष्टि से दण्डी कुन्तक और भोज के पथप्रदर्शक हैं।

गुणों के कारण काव्य में उत्कृष्टता और उदात्तता आती है। रस के होते हुए भी यदि उदात्त तत्त्व काव्य में न हो, तो वह बोझ हो जाता है।

> तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा॥ (१/६२)

दण्डी ने साधारण अलंकार के नाम से जिन अलंकारों का विवेचन किया है, आगे चलकर उनको भोज ने प्रबंधालंकार माना। साधारण अलंकार या प्रबंधालंकार एक पूरे प्रबंध में आद्यन्त व्याप्त रहते हैं। दण्डी ने इन अलंकारों के विवेचन में यह प्रदर्शित भी किया है कि पूरे नाटक या महाकाव्य में इनमें से एक-एक अलंकार किस तरह पिरोया हो सकता है। रसवत् अलंकार के उन्होंने शृंगार आदि रसों के अनुसार आठ भेद माने हैं, इनमें शृंगार के उदाहरण में भास के स्वप्नवासवदत्तम् जैसे रसमय नाटक का सन्दर्भ दिया है तो रौद्र रस के उदाहरण में वे भट्टनारायण के वेणीसंहार नाटक को इंगित करते लगते हैं।

(२।२८२) उदात्त अलंकार के लक्षण में दणडी कहते हैं—जहाँ आशय या कवि के अभिप्राय की महत्ता और विभूति का श्रेष्ठ वर्णन जहाँ हो, वहाँ उदात्त अलंकार होता है।

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा काव्यपद्धतिः॥

इस अलंकार का उदाहरण उन्होंने रामायण में राम के चरित को माना है। आशय यह कि वाल्मीकि के समग्र काव्य में उदात्त अलंकार अनुस्यूत है। उदात्त के दोनों प्रकार—आशय की महत्ता और सांसारिक वैभव का समुज्ज्वल वर्णन दण्डी की दृष्टि में वाल्मीकि की रचना में निरूपित हुए हैं। दण्डी अपनी भाषा में रामायण राम के चरित का सार इस अलंकार के निदर्शन में समेट लेते हैं—

गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः।
यो रावणशिरश्छेदकार्यभारेऽप्यविक्लवः॥

उदात्त के दूसरे प्रकार (सांसारिक वैभव का समुज्ज्वल वर्णन) के उदाहरण में उन्होंने रामायण से ही रावण के वैभव के निरूपण के प्रसंग को माना है। दण्डी यह भी कहते हैं कि इस अलंकार में कविगत अभिप्राय का माहात्म्य और अभ्युदयगौरव ये दोनों सुव्यंजित होने चाहिए, दोनों की अभिव्यक्ति प्रांजल और प्रकृष्ट नहीं हुई तो उदात्त वहाँ नहीं होगा (२/३०३)।

भामह तथा दण्डी दोनों ने पूरे प्रबंध में व्याप्त रहने वाले अलंकारों के अन्तर्गत एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अलंकार—भाविक—का निरूपण किया। पिछले अध्याय में भामह के भाविकविमर्श पर चर्चा की जा चुकी है। भामह ने इसे पूरे प्रबंध या एक समूची कृति का गुण बतलाया था। दण्डी ने भाव का अर्थ किया—कवि का अभिप्राय। यह भाव सारे प्रबंध में संक्रांत हो जाता है, तब भाविक उस प्रबंध में निष्पन्न माना जाना चाहिए। भामह की भाँति दण्डी भी भाविक को पूरे प्रबंध या लंबी कविता का गुण मानते हैं। भाविक के निष्पत्तिकारक तत्त्वों में उन्होंने किसी प्रबंध के विभिन्न खंडों में परस्पर उपकारित्व या अन्विति, विशेषणों की सार्थकता, समुचित वर्ण्य विषयों का विन्यास तथा गंभीर विषयवस्तु की अभिव्यक्ति का परिगणन किया है। पूरे प्रबंध (महाकाव्य, नाटक आदि) के विषय वस्तु के सभी हिस्सों का एक दूसरे को उपकृत करना, किसी भी विशेषण का अर्थ न आना, वर्णनों का समुचित विन्यास, संवादों में गंभीर वस्तु की अभिव्यक्ति यह सब भाव के अधीन है और भाव के होने से भाविक अलंकार होता है।

तद् भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेभिप्रायः काव्येष्वासिद्धिसंस्थितः॥

परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना।
व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गम्भीरस्यापि वस्तुनः।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद् भाविकं विदुः।

(*काव्यादर्श,* २/३६४-६५)

भामह और दण्डी दोनों ही भाविक अलंकार को कविता का ऐसा गुण मानते हैं, जिसके द्वारा काव्य की समग्र संरचना के अवयव परस्पर समन्वित तो हो हीं, उनके साथ ही कवि के अन्तर्निहित अभिप्रायों की अन्तर्वस्तु भावक (पाठक, श्रोता) के चित्त में मूर्त हो जाए। निश्चय ही दण्डी का भाविकविमर्श भामह के निरूपण को और भी विस्तृत परिधि प्रदान करता है।

भामह और दण्डी के भाविक विषयक मन्तव्यों में बाद के आचार्यों की व्याख्याओं को यदि और जोड़ लिया जाए, तो भाविक अलंकार ही नहीं, अलंकार सिद्धांत किस प्रकार कविता की समग्र व्याख्या के प्रतिमान उपस्थित करता है—यह हम जान सकते हैं। भाविक में भाव की उपस्थिति की जो व्याख्या की गई, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह एक ही अलंकार रस-ध्वनि के सारे तत्त्व को आत्मसात् कर लेता है। भाविक अलंकार भाव के होने पर होता है। भाव का अर्थ है होना। जो हो चुका या होने वाला है उसके होने का साक्ष्य भाविक है। कुवलयानंद कारिका की व्याख्या में आशाधर भट्ट कहते हैं—भावाय साक्षात्काराय प्रभवतीति भाविकम्।

भामह और दण्डी की भाविकविषयक स्थापनाओं का परिष्कार करते हुए रुय्यक ने कहा कि भाविक में केवल कवि अतीत और अनागत को प्रत्यक्ष हस्तामलकवत् देखे इतना ही नहीं, उसका पाठक या दर्शक भी उसी तरह अतीत और अनागत को प्रतिबिंब की तरह साफ देखता है।

रुय्यक भाविक को लेकर एक उल्लेख्य विचार प्रस्तुत करते हैं। यह सत्य है कि अतीत और अनागत का प्रत्यक्षायमाण होना भाविक है। पर इस प्रत्यक्षायमाणता में कविगत भाव या आशय श्रोता या भावक में प्रतिबिंबित होते हैं, भावक इन आशयों में पुनः पुनः अभिनिविष्ट हो जाता है। इस तरह भाविक अलंकार से होने वाला अनुभव समग्र काव्यानुभव या सौंदर्यानुभव हो जाता है क्योंकि न तो यह भ्रांति मात्र है, न वस्तुवृत्तप्रकाशनमात्र। इस अनुभूति में भावक अतीत और अनागत का प्रत्यक्ष करता है। यह प्रत्यक्ष लौकिक प्रत्यक्ष और योगियों के द्वारा किए जाने वाले अतींद्रिय साक्षात्कार दोनों से भिन्न होता है। जिस तरह लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण है और जिस तरह योगियों के द्वारा किया जाने वाला समाधिगत साक्षात्कार भी प्रमाण है, उसी तरह भावक के द्वारा किए जाने वाले इस

साक्षात्कार को भी प्रमाण माना जाना चाहिए। रुय्यक कहते हैं—भाविक अलंकार का अनुभव श्रोता अथवा भावक योगी की भाँति भूत और भविष्यत् को साक्षीभाव से देखते हुए करता है। इस तरह भाविक अलंकार की प्रतीति तटस्थ्य के साथ होती है।

इस प्रसंग में अलंकारवादी आचार्यों ने भावना शब्द का प्रयोग किया है। प्रतापरुद्रीयकार कहते हैं कि कवि की अद्‌भुत वर्णन कला के कारण भावक के चित्त में भावना उदित हो जाती है। जैसे विरही के चित्त में कामिनी की भावना होती है, उसी तरह कविगत आशय प्रतिबिंबित होकर भाव या भावना के रूप में चित्त में निवेशित हो जाता है। रुय्यक ने कहा कि भाविक में केवल कवि अतीत और अनागत को प्रत्यक्ष हस्तामलकवत् देखे इतना ही नहीं, उसका पाठक या दर्शक भी उसी तरह अतीत और अनागत और प्रतिबिंब की तरह साफ देखता है।

अलंकारवादियों ने रस को भी एक अलंकार (रसवदलंकार) माना है। भाविक और रसवदलंकार में अंतर यही है कि रसवदलंकार में हृदयसंवाद होता है, भाविक में कविगत अभिप्राय का सहृदय के हृदय में प्रवेश होता है, संवाद या तादात्म्य नहीं। इसी प्रकार भाविक में वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्षवत् स्फुरित होता है और स्वभावोक्ति अलंकार का भी यही स्वरूप है। अत: स्वभावोक्ति से इसका अंतर स्पष्ट किया जाना चाहिए। यह अंतर स्पष्ट करते हुए रुय्यक कहते हैं कि संवाद दो प्रकार का होता है हृदयसंवाद और वस्तुसंवाद। रसवदलंकार में हृदय संवाद होता है, स्वभावोक्ति में वस्तुसंवाद। वस्तुसंवाद में चित्त में वस्तु का बिंब बनता है। भाविक में न वस्तुसंवाद होता है, न हृदयसंवाद। साथ ही स्वभावोक्ति की तुलना में भाविक का प्रसार काल में अनेक आयामों में होता है, जबकि स्वभावोक्ति में सिद्ध या पहले से विद्यमान वस्तु का ही वर्णन किया जाता है। फिर भी रुय्यक स्वीकार करते हैं कि स्वभावोक्ति और भाविक अलंकारों की सीमाएँ एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हो जाती हैं। बिंबात्मक स्फुट प्रतीति, जिसे पश्चिम में 'इमेजरी' कहा गया है, भाविक और स्वभावोक्ति दोनों में अनिवार्यत: बिंबन होता है। (अलंकारसर्वस्वनिष्कृष्टार्थकारिका, ११७)। स्वभावोक्ति में लोकप्रसिद्ध लोकानुभूत वस्तु की स्फुट प्रतीत होती है और भाविक में असाधारण पदार्थों की। पर रुय्यक यह भी मानते हैं कि स्वभावोक्ति में किया गया साधारण या लौकिक पदार्थं का निरूपण भी अपनी असाधारणता में भाविक अलंकार के अनुप्रवेश के समान हो जाता है।

अत: भाविक अलंकार के द्वारा आचार्यों ने यह तथ्य भी प्रमाणित किया कि साहित्य की अपनी ज्ञानमीमांसा होती है, वह किसी भी स्वीकार्य शास्त्र या दर्शनप्रस्थान की ज्ञानीमीमांसा के समान प्रामाणिक है।

काव्यालंकारसारसंग्रह पर अपनी लघुवृत्ति में प्रतिहारेंदुराज भाविक में तत्काल अर्थ की प्रतीति अनिवार्य मानते हैं। कविगत अभिप्राय श्रोता या पाठक में मन में तत्काल अंकित हो जाता है, उसके कारण रसास्वाद व चतुर्वर्ग की सिद्धि काव्य में संभव होती है। कवि का रससमुल्लसित आत्मा शब्दार्थ के दर्पण में प्रतिबिंबित होता है और वह माधुर्य, ओजस् तथा प्रौढि से आविद्ध होकर प्रकाशित होता है। भावक इन्हीं शब्दार्थ का ग्रहण करता है और कवि की आत्मा का साक्षात्कार करके चतुर्वर्ग की परम पुष्टि पाता है।

भाविक में वस्तुतः आस्वाद नहीं होता, साक्षीभाव होता है। अप्पय दीक्षित ने भाविक को 'भूतभव्यार्थसाक्षाद्दर्शनवर्णनम्' कहा है। इस अलंकार के निबंधन के लिए कवि को ऋषि होना चाहिए। कुल मिलाकर दण्डी से आरम्भ करके अप्पय दीक्षित तक एक हजार वर्ष की अवधि में कई आचार्यों ने भाविक अलंकार पर विचार किया, उस विचार में भट्टतोत का यह मन्तव्य पिरोया हुआ है कि जो कवि ऋषि होता है, वह तत्त्व का दर्शन कर सकता है।

अलंकारविमर्श में हृदयसंवाद, वस्तुसंवाद था साक्षात्कार ये तीनों कलानुभव की दशाएँ निरूपित हुईं हैं। अलंकार की इस अतिमहती पीठिका को प्रतिष्ठित करने वाले प्रथम आचार्य दण्डी हैं।

●

अध्याय-५

वामन

ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा के बाद की कुछ शताब्दियों में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का सर्वाधिक प्रचार कश्मीर में हुआ। नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों की देश में सबसे समृद्ध पंक्ति यहीं बनी। इसी क्रम में इन शताब्दियों में काव्यशास्त्र भी कश्मीर में जितना संवर्धित हुआ उतना देश के अन्य किसी भाग में नहीं। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के सर्वातिशायी प्रभाव को अतिक्रान्त कर कविता के शास्त्र की जो रूपरेखा बनी, वह भी कश्मीर में। भामह और दण्डी के बाद इस रूपरेखा को सबसे सम्पन्न विन्यास देने वाले दो आचार्य कश्मीर में हुए—वामन और उद्‌भट। दोनों समकालीन थे और कश्मीर के राजा जयापीड की राजसभा में थे। वामन तो जयापीड के मंत्री थे और उद्‌भट राजसभा के सभापति। दोनों जबरजस्त पण्डित और दोनों का ओहदा भी टक्कर का था।

वामन ने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति नाम से ग्रंथ लिखा। संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा में उपलब्ध ग्रंथों में अलङ्कारशेखर के एक अपवाद को छोड़कर यह एकमात्र ग्रंथ है जो सूत्र और वृत्ति की शैली में लिखा गया। वामन पहले आचार्य हैं, जिन्होंने अपने से पहले के या अपने समय के कवियों को लेकर खुलकर बात की। अपनी कसौटियों पर उनको कसा और उनकी कविता से अपनी कसौटियों को भी सत्यापित करने का प्रयास किया। भामह और दण्डी ये दो आचार्य अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में उनके पहले अवतरित हो चुके थे। भामह ने दो एक कवियों या उनकी कृतियों का नाम तो लिया है, पर न तो उनसे कोई सीधे उद्धरण दिया है, न उन्हें लेकर स्पष्ट चर्चा ही की है। दण्डी में भी यही स्थिति है। वामन आनन्दवर्धन के पूर्व की परम्परा में अकेले आचार्य लगते हैं, जो कालिदास, अमरुक, बाण, भवभूति, माघ, धर्मकीर्ति आदि कवियों के साथ जनजीवन पर कविता लिखने वाले रचनाकारों के पद्य भी उद्धृत करते हुए उनकी कविता पर विचार करते हैं।

उद्‌भट ने कालिदास के कुमारसम्भव के अनुकरण पर कुमारसम्भव के नाम से ही महाकाव्य लिखा, भरत के नाट्यशास्त्र पर भाष्य और भामह के काव्यालंकार पर टीका रची। उनका काव्य और दोनों टीकाएँ अप्राप्य हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उनका अवदान उनके काव्यालंकारसंग्रह नामक ग्रंथ के

द्वारा सुविदित है। उन्होंने काव्यालंकारसंग्रह में विभिन्न अलंकारों या अन्य काव्य कोटियों के सारे के सारे उदाहरण अपने स्वयं के रचे कुमारसम्भव काव्य से दिए हैं और दूसरे कवियों और काव्यों को लेकर कोई चर्चा नहीं की है।

उद्भट को भट्टोद्भट या उद्भटाचार्य के नाम से स्मरण या उद्धृत किया जाता रहा है। यह पता नहीं चलता कि यही उनका वास्तविक नाम था या उनके उद्भट आचार्यत्व के कारण उन्हें उद्भट की उपाधि दे दी गई थी। उद्भट सचमुच में उद्भट थे। भरतमुनि का कुछ स्थानों पर उन्होंने पूरे साहस और शास्त्रबोध के साथ खण्डन किया है। भरतमुनि के चार वृत्तियों के सिद्धांत को ही उन्होंने पूरी तरह खारिज कर दिया है, एक भिन्न दृष्टिकोण से तीन अलग वृत्तियों की परिकल्पना की है। वामन से भी उनके सैद्धान्तिक मतभेद थे और एक ही राजा की सभा में रहकर दो दिग्गज पण्डितों में जो विवाद होता रहता था, उसका आभास हम उनकी कृतियों से पा सकते हैं। वामन रीति सिद्धांत के प्रवर्तक आचार्य के रूप में जाने जाते हैं। उद्भट ने उनके समकालीन होते हुए भी अपने ग्रंथ में रीति की कहीं चर्चा नहीं की। वामन के यहाँ रीति का वैशिष्ट्य गुणों में है। उद्भट गुणों का विवेचन भी नहीं करते। काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र में उद्भट के अनुगामियों की परम्परा बराबर बनी रही। जिसे औद्भट संप्रदाय या उद्भटानुयायीवर्ग (औद्भटाः) के नाम से आनन्दवर्धन, रुय्यक, अभिनवगुप्त तथा पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने उद्धृत किया है।

परम्परा में उद्भट को यह श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने अलंकार को काव्य के मूल तत्त्व के रूप में स्थापित किया। रुय्यक ने अपने अलंकारसर्वस्व में अलंकारप्राधान्यवाद के प्रवर्तक आचार्य के रूप में उनका नाम लिया है। वे रसतत्त्व को भी रसवद् अलंकार के रूप में अलंकार के अंतर्गत ही स्थान देते हैं। उद्भट ने ही यह भी सप्रमाण विवेचन किया था कि अलंकारों में अनेक ऐसे हैं, जो ध्वनित या व्यङ्ग्य होते हैं। इस तरह उनके शास्त्र में ध्वनि या व्यंजना की प्रक्रिया काव्य में अलंकार या अलंकरणप्रक्रिया में गतार्थ हो जाती है। आनन्द-वर्धन ने उद्भट के प्रति गहरा आदर प्रकट करते हुए ध्वन्यालोक (२/६ के उपोद्घात) में उनके इस विवेचन पर ध्वनिवादी की दृष्टि से विचार किया है।

जयापीड की राजसभा में हर शास्त्र के पण्डितों का खासा जमावड़ा था। कवियों का वहाँ सम्मान था। इतिहासकार कल्हण ने राजतरङ्गिणी (४/४९७) में कहा है कि जयापीड की राजसभा में मनोरथ, शंखदत्त, चटक और सन्धिमत्— ये कवि थे तथा वामन जैसे अलंकारशास्त्र के आचार्य जयापीड के मन्त्री थे।

इस साहित्यिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जयापीड के अपने शास्त्रप्रेम, साहित्यानुराग तथा संग्रहवृत्ति के कारण उसकी राजसभा कुछ वर्षों तक एक

जाग्रत विश्वविद्यालय बन गई थी। जयापीड ने कुल ३४ वर्ष कश्मीर में शासन किया। सन् ७७९ ई. से लेकर ८१३ ई. तक। आरम्भ में उसने भी अपने पितामह ललितादित्य की भाँति भारत भर में विजययात्रा की और प्रयाग तक पहुँचा। यहीं कहीं उसने कार्तिकेय के मन्दिर में नृत्य होता देखा। जयापीड ने नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। कल्हण बताते हैं कि नृत्य देखते हुए वह उसमें नाट्यशास्त्र-सम्मत हस्त, मुख आदि की स्थितियों को पहचानता जा रहा था। विजय का अभियान समाप्त करके कश्मीर वापस आने के बाद जयापीड ने वहाँ की लुप्त होती शास्त्र-परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया। महाभाष्य के अध्ययन की कश्मीर में परम्परा रही है। उसे फिर से जोड़ने के लिए जयापीड ने बाहर से महाभाष्य के विद्वान् बुलवाए। इन विद्वानों में प्रख्यात विद्वान थे क्षीरस्वामी। व्याकरण के पण्डितों में अभी भी क्षीरस्वामी का आदर के साथ स्मरण किया जाता है। जयापीड ने स्वयं इन्हीं से महाभाष्य का अध्ययन किया था। अन्य शास्त्रों के पण्डितों को भी जयापीड ने देश के अन्य भागों से ससम्मान अपने दरबार में बुलाकर उन्हें कश्मीर में प्रतिष्ठित किया। कल्हण लिखते हैं कि दूसरे प्रान्तों में यह सन्देह किया जाने लगा था कि जयापीड की इस संग्रहवृत्ति के कारण कश्मीर को छोड़कर अन्यत्र पण्डित बचेंगे भी या नहीं?

जयापीड ने स्वयं साहित्यानुरागी और पण्डित होने के कारण कवियों और शास्त्रपण्डितों को अपने दरबार में बड़े ओहदे दे दिए थे। कवि दामोदर भी उसके मन्त्री थे—समूची संस्कृत साहित्य की परम्परा में अपने ढंग के निराले कवि। जयापीड के समय एक बड़ी घटना साहित्यजगत् में हुई—इन्हीं कवि और अमात्य दामोदर के द्वारा 'कुट्टनीमत' काव्य का लिखा जाना। एक क्षेमेन्द्र की कविता को छोड़ दें तो 'कुट्टनीमत' की जोड़ का दूसरा काव्य संस्कृत में कदाचित् नहीं लिखा गया। कुट्टनियों और वेश्याओं के जीवन का कच्चा चिट्ठा लिखने वाले भी दो ही कवि संस्कृत साहित्य में हैं, दामोदर भट्ट और क्षेमेन्द्र। संयोग से दोनों थोड़े समय के अन्तराल पर कश्मीर में ही हुए।

जिस कश्मीर में वामन के द्वारा रीति तत्त्व पर विमर्श हो रहा था, उद्भट अलंकार को कविता के प्राण के रूप में स्थापित कर रहे थे और ध्वनिसिद्धांत की बात की जा रही थी, वहीं दामोदर अपना कुट्टनीमत लिख रहे थे—वेश्याओं और कुट्टनियों के जीवन के नरक और छद्म, वैभव और वंचना, विडम्बना और आनन्द सबको प्रत्यक्षदृष्ट सा उजागर करते हुए। अलंकारशास्त्रियों ने जिसे जाति अलंकार (यथार्थचित्रण) कहा, उसका उत्कृष्ट उदाहरण कुट्टनीमत काव्य है। यह बात दूसरी है कि उनके समकालीन आचार्यों में वामन ने तो जाति या स्वभावोक्ति अलंकार का नाम ही नहीं लिया, न ही दामोदर या उनके काव्य का

कोई उल्लेख किया। उद्‌भट ने अपने काव्यालंकारसंग्रह में स्वभावोक्ति अलंकार बताया है। पर उसका क्षेत्र बहुत सीमित रखा है। उनके अनुसार किसी क्रिया में प्रवृत्त मृगों या पशुओं तथा डिम्भों या छोटे बालकों आदि के हेवाकों (उसके अपने संस्थान तथा चेष्टाओं) का वर्णन स्वभावोक्ति है। आनन्दवर्धन तो कवि दामोदर से बहुत कनिष्ठ ही रहे होंगे। उन्होंने जनजीवन में रची बसी प्राकृत की गाथाओं को खूब उद्धृत किया और उनके आधार पर अपने शास्त्र को परिकल्पित और उपन्यस्त किया, कुट्टनीमत की कथा उनके ध्वन्यालोक में भी कहीं नहीं आई है। कुछ बाद में मम्मट ने अवश्य कुट्टनीमत से आर्या उद्धृत की है।

आधुनिक विद्वान् संस्कृत के काव्यशास्त्र की परम्परा में रस रीति, ध्वनि या वक्रोक्ति आदि अलग-अलग सम्प्रदाय मानते हैं। पर वास्तव में आचार्यों की परम्परा ने इस तरह पृथक्करण करते हुए सम्प्रदायों में इस परम्परा को नहीं देखा। काव्यतत्त्व के विवेचन की ऐसी अनेक दृष्टियाँ जो परस्पर पूरक हैं, रस, रीति, वक्रोक्ति आदि सिद्धांतों में अवश्य अन्तर्निहित हैं। सम्प्रदाय यदि माने गए तो सबसे पहले इन्हीं दो आचार्यों—वामन और उद्‌भट के माने गए। राजशेखर दसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हुए। वे 'इति वामनीयाः' (वामन के अनुयायियों का कहना यह है) कहकर वामन के मत उद्धृत करते हैं और इसी रूप में उद्‌भट के मत भी।

उद्‌भट के काव्यालंकारसंग्रह पर प्रतीहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति नाम से टीका लिखकर जो विमर्श प्रस्तुत किया है, वह आचार्य परम्परा में बहुत समादृत और उद्धृत होता रहा है। प्रतीहारन्दुराज कोंकण के निवासी थे। वे अच्छे कवि भी थे। वे प्रख्यात पण्डित मुकुलभट्ट से अध्ययन करने कश्मीर आए थे। वामन के एक टीकाकार सहदेव बताते हैं कि वामन का ग्रंथ कश्मीर में लुप्त हो गया था, मुकुलभट्ट ने ही किसी तरह उसकी एक प्रति प्राप्त करके उसका उद्धार किया था। इन्हीं प्रतिहारेन्दुराज या इन्दुराज से आचार्य अभिनवगुप्त ने अलंकारशास्त्र का अध्ययन ने किया।

आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दियों में कश्मीर में एक साथ कई दिग्गज आचार्यों की उपस्थिति और उनके परस्पर शास्त्रार्थ के द्वारा काव्यशास्त्र में अभूतपूर्व सम्भावनाओं, उद्‌भावनाओं और परिकल्पनाओं की सृष्टि हुई। मुकुलभट्ट ने अभिधावृत्तिमातृका लिखकर ध्वनिवाद पर करारा प्रहार किया था। नाट्यशास्त्र के तीन बहुशः उद्धृत होने वाले व्याख्याकारों—लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक का भी समय इन्हीं शताब्दियों के घेरे में है। उद्‌भट या औद्‌भट सम्प्रदाय की नाट्यशास्त्र के सन्दर्भ में एक विप्रतिपत्ति का प्रतिवाद लोल्लट ने किया था, जिसका विवरण अभिनवगुप्त ने दिया है।

अलंकारवादियों और ध्वनिवादियों के बीच शास्त्र के स्तर पर होने वाले विकट समर की रूपरेखा जयापीड की राजसभा में ही बनी। आनन्दवर्धन भी ठीक इसी समय एक तरुण तेजस्वी साहित्यशास्त्री के रूप में उभर रहे थे। वे और उनके सहयोगी ध्वनिसिद्धांत का विमर्श प्रस्तुत कर रहे थे। यद्यपि ध्वन्यालोक अभी नहीं रचा गया था। कविता का संरचना से परे सहृदय के चित्त में भासित होनेवाली गूँज और अनुगूँज के आधार पर कविता का शास्त्र रचने का संरम्भ करने वाले तरुण पण्डित जयापीड की राजसभा के आचार्यों और कवियों की दृष्टि में संरम्भ नहीं दम्भ भर रहे थे। इन्हीं कवियों में एक थे मनोरथ कवि, जिनका नाम जिनका जिक्र ऊपर किया गया है। मनोरथ कवि ध्वनि के प्रबल विरोधी थे। आनन्दवर्धन ने उनका यह पद्य ध्वनिविरोधियों के मत प्रस्तुत करते हुए उद्धृत किया है—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादिसालङ्कृति
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पुष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥

(जिसमें मन को आह्लादित करने वाली कोई अलंकृत वस्तु नहीं, जो व्युत्पन्न वचनों से रचा हुआ नहीं है, वक्रोक्ति से शून्य है, ऐसे काव्य की, ध्वनि से समन्वित है—यह कहकर प्रीति के साथ वह मूर्ख प्रशंसा कर रहा है, हम नहीं जानते कि बुद्धिमान् के द्वारा पूछने पर वह ध्वनि का क्या स्वरूप बताएगा?)

ध्वनिवादी काव्य के मर्म का अनुसंधान करने के लिए जो सूक्ष्म और तलस्पर्शी मापदण्ड सामने ला रहे थे, उनकी अलंकारवादियों के द्वारा यों खिल्ली उड़ाई जा रही थी। इस उपहास का ही कदाचित् परिणाम यह हुआ कि आनन्दवर्धन अलंकारवाद पर जब ध्वन्यालोक में पलट कर प्रहार करते हैं, तो वे उसके उपकरणों को जानबूझकर भोंथरा और अकिंचित्कर सिद्ध करते हैं। आनन्दवर्धन खूब अच्छी तरह जानते हैं कि वामन में रीति और संघटना क्या है और वे वितण्डावाद के द्वारा उसे सीमित कर देते हैं। अलंकार की सूक्ष्म अवधारणा को भी वे इसी चतुराई से स्थूल बनाकर प्रस्तुत करते हैं।

अलंकारवादियों के साथ ध्वनिवादियों का जो घमासान शास्त्रार्थ हुआ, ध्वन्यालोक को पढ़ते हुए अनेक स्थलों पर उसकी अनुगूँजे सुनी जा सकती हैं।

उद्भट और वामन जैसे आचार्यों और मनोरथ जैसे ध्वनिविरोधी कवियों के रहते आनन्दवर्धन को जयापीड की राजसभा में जगह नहीं मिल सकती थी। आनन्दवर्धन का सम्मान हुआ जयापीड के कुछ समय बाद राजा अवन्ति वर्मा के साम्राज्य में।

वामन अपने ग्रंथ का आरम्भ अलंकार की कविता में सर्वव्यापी सर्वसमावेशी उपस्थिति के प्रतिपादन से करते हैं। वे कहते हैं—'काव्य अलंकार के कारण ग्राह्य होता है, सौन्दर्य ही अलंकार है।' इसके आगे वे बताते हैं कि इस सौन्दर्य के आधान की सारी प्रक्रिया भी अलंकार है। यह प्रक्रिया दोषों का निवारण तथा गुणों और अलंकारों का विन्यास है।

इस तरह कुल मिलाकर वामन की दृष्टि से कविता में अलंकार के तीन अर्थ हो जाते हैं। एक—कविता का सम्पूर्ण सौन्दर्य अलंकार है। दो—इस सौन्दर्य के आधान की प्रक्रिया अलंकार है। तीन—इस प्रक्रिया के उपादान भी अलंकार हैं। पहला अर्थ जितना ही सूक्ष्म है, उतना ही व्यापक। दूसरे और तीसरे अर्थों में काव्यसौन्दर्य के वे पक्ष समाहित हैं, जिनमें उसकी संरचना के स्थूल तत्त्व आते हैं। यह स्वाभाविक था कि अलंकारवादी आचार्य, जो अलंकार को काव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य का पर्याय मानते हैं, इन स्थूल रूप में भासित हो सकने वाले तत्त्वों पर शास्त्रीय विमर्श अधिक करें। इस विमर्श के कारण ध्वनिवादियों को यह प्रवाद खड़ा करने का अवसर मिला कि अलंकार कविता का स्थूल तत्त्व है, उसकी संघटना का आभ्यन्तर अवयव नहीं।

एक फूल को सौन्दर्य की मीमांसा करने चलें, तो सबसे पहले उसकी पंखुडियों पर दृष्टि जाती है। फूल की संरचना तो नीचे जिस बन्ध में पंखुड़ियाँ गुँथीं रहती हैं, उससे बनती है। पंखुड़ियों पर दृष्टि सबसे पहले जाती है। वे पंखुड़ियाँ फूल की जिस समग्र संरचना में बँधी हैं, उसे हम अनदेखा करते हैं। और फूल की सुगन्ध जो इस संरचना में रमी हुई है, वह फूल का वास्तविक अलंकार है। काव्य पुष्प की संरचना के भी से स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक अनेक स्तर हैं। वामन ने अर्थ की एक ऐसी कोटि भी निरूपित की है, जिसके भीतर कोई सुगन्ध रमी होती है। इस पर हम उनके समाधि गुण के विवेचन के सन्दर्भ में आगे चर्चा करेंगे।

कविता के सम्पूर्ण सौन्दर्य का तो किसी एक कोटि में एक साथ विवेचन नहीं हो सकता। रीतिवादी विमर्श में उसके आधान की प्रक्रिया को इंगित किया जा सकता है, उससे अधिक स्पष्ट होकर उसके उपादानों को प्रतिपादित किया जा सकता है। सौन्दर्य के आधान की प्रक्रिया गुणों की उपस्थिति के द्वारा बतलाई जा सकती है। उसके उपादानों के रूप में विभिन्न कोटियों का निरूपण किया जा सकता है। काव्य का समग्र सौन्दर्य यहाँ अलंकार कहा गया है। जो कोटियाँ इस समग्र सौन्दर्य के अवयव हैं, उन्हें भी अलंकार ही कहा गया। इसलिए रीतिवादी या काव्यसंरचना को लेकर विमर्श करने वाले की पद्धति यही हो सकती है कि

वह स्थूल तत्त्व की मीमांसा विस्तार से करे। यह विस्तार ही उसके विरोधी ध्वनिवादी को उस पर आक्षेप करने का अवसर देता है।

आनन्दवर्धन को अपना एक प्रबल प्रतिपक्ष वामन के रीतिविमर्श में दिखाई दिया। रीतिवादी पर आक्षेप करते हुए उन्होंने यही कहा कि वह काव्य के सूक्ष्म और गहन तत्त्व तक पहुँच नहीं सका, ऊपरी चीज रीति पर विचार करता रह गया।

अस्फुटस्फुरितं ह्येतद् व्यङ्ग्यतत्त्वं यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः॥ (*ध्वन्यालोक,* ३/४६)

अलंकार की प्रक्रिया (अलंकरण) तथा अलंकरण के उपादानों से कविता में बन्ध निर्मित होता है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कविजनों को निर्देश दिया है कि छत्तीस लक्षणों से युक्त काव्यबन्ध का समावेश नाट्यरचना में किया जाय—'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः।' (नाट्यशास्त्र १५/२२७) बन्ध का अर्थ संरचना है, जिसे आचार्य परम्परा में संघटना कहा गया। अभिनवगुप्त ने बन्ध, गुम्फ (गुँथाव) भणिति (काव्य की उक्ति) और वक्रोक्ति को पर्याय माना (बन्धः गुम्फो भणितिर्वक्रोक्तिरिति पर्यायाः।—*अभिनवभारती*)। वामन ने इसे बन्ध या संघटना न कहकर आत्मा कहा है। आत्मा शब्द का प्रयोग भी वामन समग्र संरचना के अर्थ में ही करते हैं, वेदान्त या किसी अन्य दर्शन में स्वीकृत अर्थ में नहीं। अभिज्ञानशाकुन्तल में अनसूया दुष्यन्त से पूछती है—'किन्निमित्तं वा तपोवनगमनपरिश्रमस्य आत्मा पदमुपनीतः?'—आपने अपने आत्मा को तपोवन में आने के परिश्रम का पात्र क्यों बनाया?—वेदान्ती आत्मा परिश्रम नहीं करता, न थकता है। आत्मा कहने से यहाँ आशय देह या रूप से है। यदि इस आत्मा को किसी दार्शनिक परिभाषा में निरूपित करना हो, तो देहात्मवादी दृष्टि से निरूपित किया जा सकता है। वामन रीति को काव्य की आत्मा कहते हैं, तो उनके कहने का भी यही आशय है कि रीति काव्य की अपनी संरचना है। वे इसे चित्र की रचना के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

आसु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्रं, प्रतिष्ठितं काव्यम्। (*का.सू.* १.२.१३ की वृत्ति)

इन तीन प्रकार की रीतियों में काव्य इसी तरह प्रतिष्ठित है, जिस तरह रेखाओं में चित्र। रेखाओं में चित्र बँधा होता है, उसी तरह रीति में काव्य। रीति कविता के चित्र में रेखाओं का खाका है, गुण और अलंकारों से इसमें रंग और छायाएँ रची जाती हैं। पर इन रंगों और छायाओं को बाँधती रीति ही है। इसीलिए रीति को बन्ध कहा गया।

कविता में यह बन्ध कैसे बनता है? शब्द के अतिरिक्त बन्ध के निर्माण का और तो कोई जरिया हो नहीं सकता। इसलिए वामन ने बन्ध का अर्थ लिया कविता में प्रयुक्त शब्दों की जमावट। (बन्धः पदरचना-काव्यालंकारसूत्र ३/१.४

की वृत्ति)। यह जमावट गुणों से बनती है। इस जमावट में गुण हैं और गुणों में यह जमावट है।

इस बन्ध की विशिष्टता में ही कविता है। कुन्तक ने इस दृष्टि से काव्य का लक्षण ही यह किया है कि शब्द और अर्थ मिलकर जब एक बन्ध में व्यवस्थित होते हैं, वहाँ काव्य होता है (*वक्रोक्तिजीवित,* १/७)। रीति विशिष्ट पदरचना है। इस बन्ध से इतिवृत्त या कविता की विषयवस्तु में कुटिलता आ जाती है। कुन्तक ने जिसे वक्रोक्ति या वक्रता कहा है, उसके लिए वामन कुटिलत्व शब्द का प्रयोग करते हैं।

इस तरह कविता बन्ध से अलग नहीं। बन्ध में कविता है, कविता में बन्ध। फिर भी बन्ध को कविता से और कविता को बन्ध से अलगा कर देखा जाता है। शब्द से अर्थ अलग नहीं है, अर्थ से शब्द अलग नहीं है। फिर भी यह शब्द है और उसका यह अर्थ इस तरह समझाने के लिए कहा जाता है। यदि कविता की अविभाज्य समग्र संरचना को बिखेर कर देखने का प्रयास करें, तो कह सकते हैं कि कविता में रीति, रीति में पदरचना, पदरचना में वैशिष्ट्य या गुणों की उपस्थिति है। पर यह बिखेरना तात्त्विक नहीं, व्यावहारिक और आभिमानिक है।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय में काव्य के छत्तीस लक्षण, दस गुण, चार अलंकार और दस दोष बताए। इसके पहले अध्यायों में वे नाट्य के सर्वव्यापी तथा केन्द्रीय तत्त्व के रूप में रस की व्याख्या कर चुके थे। रस से इन छत्तीस लक्षणों, दस काव्यगुणों तथा अलंकारों का क्या संबंध है, इस पर भरतमुनि ने कुछ नहीं कहा।

भरतमुनि ने काव्य के दस गुण बतलाए थे—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस्, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति। काव्यशास्त्र में उनके बाद दण्डी पहले आचार्य हैं, जिन्होंने इन्हीं नामों से कुछ भिन्न लक्षणों के साथ काव्य के इन गुणों का निरूपण किया। पर वामन ने गुणों की सारी अवधारणा को रीति या संघटना के साथ पुनर्व्यवस्थापित करते हुए पहली बार इन गुणों की शब्दगुण और अर्थगुण के रूप में परिकल्पना प्रस्तुत की। वामन के विवेचन में गुणों के नाम तो ये ही रहे, उनकी परिणतियाँ भिन्न हो गईं।

यह वामन और उनके प्रस्थान का साहसिक चरण है कि वे रस को काव्य की संरचना के भीतर गुणों के अन्तर्गत व्यवस्थापित करते हैं। इसके साथ वामन गुण की दो कोटियों—शब्दगुण और अर्थगुण के द्वारा इस संरचना को जाँचने की प्रचलित दृष्टि को संशोधित कर देते हैं। शब्दों की नसैनी से बन्ध ऊपर चढ़ता है और उतरता है। शब्द एक सपाट धरातल पर भागते हैं या मन्द मन्थर गति से चलते हैं। कवि शब्दों को माँजता है, उनसे बन्ध में एक चमक ले आता है। शब्द एक संकुल बना देते हैं, आवर्त और विवर्त रच देते हैं। इस उतार-चढ़ाव, गति,

आवर्त, विवर्त और चमक में कविता का रूप है। पर इसके साथ अर्थ में जो गति, उतार-चढ़ाव, आवर्त और विवर्त तथा चमक आती है, वह कविता की वस्तु के स्तर पर।

अलंकारशास्त्र के इतिहास में ध्वन्यालोक चातुर्य और वैदग्ध्य से परिपूर्ण चमत्कार है। यह चमत्कार न घटता, यदि आनन्दवर्धन के पहले वामन और उद्‌भट न हो चुके होते। यह निश्चित है कि आनन्दवर्धन दोनों को खूब पढ़ चुके थे। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा कहा था। आनन्दवर्धन ने उनसे स्पर्धा करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा। पर वामन के 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इस सूत्र की व्याख्या देहात्मवादी दृष्टि से करने पर संगति जिस तरह बैठ जाती है, उस तरह आनन्दवर्धन के काव्यस्यात्मा ध्वनिः में देहात्मवाद की संगति नहीं बैठती। उनके यहाँ तो आत्मा की सारी परिकल्पना उसे उस देह से काट कर देखने में है, जिसमें वह समाया हुआ है। आनन्दवर्धन उसे उसके देह से अलग करके अन्यत्र तो प्रतिष्ठित करते ही हैं, वे इस आत्मा में भी फाँक कर देते हैं। वे कहते हैं—'सहृदयों के द्वारा प्रशंसित जिस अर्थ को काव्य की आत्मा कहा जाता है, उसके दो भेद हैं—वाच्य और प्रतीयमान।' यदि ये एक सिक्के के दो पहलुओं की तरह एक-दूसरे से जुड़े हुए मान लिए जाते, तो बात वही होती, जो वामन कह रहे थे। वामन और उद्‌भट भी संरचना को काट कर या बिखेर कर प्रस्तुत करते हैं, पर वे पुनः समग्र में संयोजित करने के लिये। इसलिए वहाँ विभाजन यथार्थ नहीं है। पर यदि शब्द के व्यापार ही अलग-अलग मान लिये जाएँ, तो विभाजन भी एक यथार्थ बन जाता है। आनन्दवर्धन के प्रस्थान में तो यह विभाजन यथार्थ ही नहीं, परमार्थ बन जाता है। शब्द पर इतना जोर देने वाले वामन ने शब्दव्यापार पर कुछ नहीं कहा। भरतमुनि ने भी शब्दव्यापार पर कोई विचार नहीं किया था। शब्द के अभिधा, लक्षणा और व्यंजना आदि अलग-अलग व्यापार या प्रक्रियाएँ मानने वाले उसे विभक्त रूप में देखते हैं। बन्ध या शब्द से निर्मित संरचना पर दृष्टि रखने वाले आचार्य शब्द के व्यापार को इस तरह खाँचों में बाँटकर नहीं देखते। मुकुलभट्ट ने इस विभाजन के विरोध में ही अभिधावृत्तिमातृका का प्रणयन किया। उनका कहना यही था कि शब्द का व्यापार एक ही है—अभिधा। अन्य व्यापार मानना शब्द की अखण्ड सत्ता को तोड़ना है।

आनन्दवर्धन वामन के गुण और अलंकार का स्वरूप बदल देते हैं। काव्यशास्त्र में पहली बार कविता के देह से उसकी आत्मा को अलगा कर देखने की बात आती है, उसके साथ ही अंग और अंगी की बात आती है। ध्वन्यालोक में बार-बार अंग और अंगी की शब्दावली का अलंकारवाद से लड़ाई के लिए एक अस्त्र की तरह इस्तेमाल हुआ है। इस रणनीति में अलंकार तो देह पर ऊपर से डाल दिए गए करधनी और कुण्डल जैसे भर बनकर रह जाते हैं—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा विज्ञेया कटकादिवत्॥ (*ध्वन्यालोक,* २/६)

एक ओर तो आनन्दवर्धन यह बताते हैं कि वाच्य अर्थ भी कविता की आत्मा है। उसी वाच्य अर्थ के अंग अलंकार हुआ करते हैं—यह भी वे बार-बार स्वीकार करते हैं। फिर अलंकार काव्य की आत्मा के अंग क्यों न हुए?

वामन ने अलंकार को काव्य का सर्वव्यापी तत्त्व बताते हुए काव्यगत संरचना की रीति और गुण के द्वारा जो व्याख्या की थी, उसमें काव्य के संघटनापक्ष का समग्र शास्त्र था। उनके इस अवदान को आनन्दवर्धन और उनके अनुयायी पहचान रहे थे। अभिनवगुप्त ने जब नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय पर टीका करते हुए भरत के दस गुणों का विवेचन किया, तो उन्होंने वामन के शब्दगुणों और अर्थगुणों के लक्षण उन पर सत्यापित करते हुए वामन का सहारा लिया। पर ध्वनिवाद की स्थापना के लिए वामन की संरचना को ढहाना आनन्दवर्धन और उनके अनुयायियों के लिए आवश्यक था।

ध्वनिवादी होकर आनन्दवर्धन संघटना और गुणों के संबंध पर जम कर चर्चा करते हैं। संघटना को लेकर पहली और अन्तिम बार किसी ध्वनिवादी आचार्य ने इतनी विशद चर्चा की है। पर इस चर्चा में एक ध्वनिवादी की चतुराई भी साफ है। आनन्दवर्धन ने संघटना का अर्थ ले लिया है वृत्ति या समासों की योजना। ध्वन्यालोक (३/५) में उन्होंने संघटना के तीन प्रकार बताए—असमासा, मध्यमसमासा तथा दीर्घसमासा। समास का अर्थ भी संस्कृत व्याकरण में प्रचलित अर्थ ही आनन्दवर्धन को यहाँ अभिप्रेत है, यह यहाँ (३/५) पर उनकी वृत्ति और उदाहरणों से स्पष्ट है। ध्वन्यालोक के अंग्रेजी अनुवादक के. कृष्णमूर्ति ने अपने इस स्थल के अनुवाद में संघटना के लिए टैक्सचर शब्द रखा है। यदि गुणों से विशिष्ट बन्ध या पदों की विशेष जमावट संघटना है, तो इसे केवल वृत्ति या समास रचना तक सीमित नहीं किया जा सकता। गुणों में समाधि जैसा गुण भी है, जिसके भीतर व्यंजना की वे सारी बारीकियाँ भी आ जाती हैं, जिनका निरूपण आनन्दवर्धन आदि ध्वनिवादी करते आए हैं।

अस्तु, गुणों और संघटना के संबंध को लेकर आनन्दवर्धन के तीन दृष्टियों का हवाला दिया है, एक—गुण और संघटना अभिन्न हैं, गुण संघटना पर आश्रित हैं, तीन—संघटना ही गुणों पर आश्रित है। इनमें पहली अद्वैतवादी या अभेदवादी है, दूसरी और तीसरी द्वैतवादी दृष्टियाँ हैं।

गुण और संघटना को लेकर अभेदवादी दृष्टि वामन की है, दूसरी दृष्टि जो संघटना से गुणों की निष्पत्ति या गुणों के संघटनाश्रित होना स्वीकार करती है—उद्भट की है। वामन और उद्भट के बीच वैचारिक स्तर पर मतभेद का एक पक्ष इससे जाना जा सकता है।

न केवल वामन गुण और कविता की जमावट में अभेद या अद्वैत देखते थे, वे यह भी मानते थे कि इस जमावट में एक सम्प्लवात्मकता होती है अर्थात् गुण एक-दूसरे से गड्डमड्ड हो जाते हैं। यहाँ तक कि एक-दूसरे के विपरीत समझे जाने वाले गुण भी एक साथ मिल जाते हैं। जीवन में सुख और दुःख गड्डमड्ड हैं। इसी तरह कविता में भी सुख दुःख गड्डमड्ड हो सकते हैं। जिस तरह करुणप्रेक्षणीयों या करुणरस के नाटकों में सुख और दुःख का सम्प्लव अनुभव में आता है, उसी तरह कविता में ओजस् और प्रसाद का सम्प्लव भी अनुभव से सिद्ध है—

करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथानुभवतः सिद्धस्तथैवोजःप्रसादयोः॥

(*काव्यालंकारसूत्र,* ३/१/९ की वृत्ति)

वामन कहते हैं कि जिस तरह सुन्दर युवती की काया में यौवन रहता है, ऐसे ही काव्य में गुण। उसकी काया से यौवन को अलगाया नहीं जा सकता। आनन्दवर्धन ने कविता के सौन्दर्य को समझाने के लिए यही दृष्टान्त लिया है—कदाचित् वामन के प्रभाव से। पर उन्होंने यौवन को लावण्य से विस्थापित कर दिया है और उसे अलगा भी दिया है। वे कहते हैं कि जैसे सुन्दरी की काया में लावण्य उसके सारे अवयवों से भिन्न और अतिरिक्त कुछ अलग ही तत्त्व होता है, इसी तरह कविता में प्रतीयमान नाम का तत्त्व, जो उसकी संघटना से भिन्न और अलग होता है (*ध्वन्यालोक,* १/४)।

कुन्तक कहते हैं कि काव्य एक निरस्तावयव समुदाय है। अन्ततः इसका अवयवों और अवयवी में विभाजन मिथ्या है। अलंकार और अलंकार्य का विभाजन भी मिथ्या है। यह विभाजन शास्त्र में यदि किया भी जाता है तो समझाने के लिये। इस तरह वामन और कुन्तक निरस्तावयव काव्य का अवयवों में विभाजन करते हैं, पर वे समग्र को समझने के लिए यह विभाजन करते हैं। ध्वनिवाद से आरम्भ से ही इनका विरोध इसी आधार पर है। ध्वनिवादी भी विभाजन करता है, पर वह प्रतीयमान में विश्रान्ति के लिए और प्रतीमान को अलगाने के लिए करता है, काव्य की समग्रता के लिये नहीं।

वामन के दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों के लक्षण इस प्रकार हैं—

गाढबन्धत्वमोजः। शैथिल्यं प्रसादः। मसृणत्वं श्लेषः। मार्गाभेदः समता। आरोहावरोहक्रमः समाधिः। पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। अजरठत्वं सौकुमार्यम्। विकटत्वमुदारता। अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः। औज्ज्वल्यं कान्तिः। (*काव्यालंकारसूत्र* ३.१५-२५)

(कविता में बन्ध का कसा हुआ होना ओजस् है। बन्ध का ढीला होना प्रसाद है। परिष्कार श्लेष है। मार्ग या रीति की अन्विति होनी समता है। आरोह और अवरोह का क्रम समाधि है। पदों का अलग-अलग होना माधुर्य है। पदों में

कठोरता न होना सौकुमार्य है और उनमें विकटता का होना उदारता है। अर्थ का स्पष्ट प्रकट होना अर्थव्यक्ति है। उज्ज्वलता कान्ति है।)

अर्थस्य प्रौढिरोजः। अर्थवैमल्यं प्रसादः। घटना श्लेषः। अवैषम्यं समता। अर्थदृष्टिः समाधिः। उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। अपारुष्यं सौकुमार्यम्। अग्राम्यत्वमुदारता। वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः। दीप्तरसत्वं कान्तिः। (*वही,* ३.२.२-१४)

(अर्थ की प्रौढ़ता ओजस् है। उसकी निर्मलता प्रसाद है। घटना या विशिष्ट संरचनात्मक अन्विति श्लेष है। विषमता का न होना समता है। अर्थ की दृष्टि या नए अर्थों का साक्षात्कार समाधि है। उक्ति की विचित्रता माधुर्य है। कठोरता का अभाव सौकुमार्य है। ग्राम्यता का अभाव उदारता है वस्तु के स्वभाव का स्फुट होना अर्थव्यक्ति है। रसों की उद्दीप्त होना कान्ति है।)

शब्दों से जो बन्ध बनता है, उसमें गाढ़ापन हो सकता है, शिथिलता हो सकती है। ये दोनों ओजस् और प्रसाद हैं। ये दोनों कविता में एक साथ चलते हैं। कहीं शब्द की जमावट ऊपर चढ़ती लगती है, कहीं नीचे उतरती है। यह आरोह और अवरोह समाधि है। यह जमावट लगातार एक सी या सीधी सपाट हो सकती है। यह समता है। इसमें पदों के बिखराव की छटा हो सकती है, यह पृथक्पदता माधुर्य है। इस छटा में कोमलता हो सकती है, यह सौकुमार्य है। या फिर वह विकट हो सकती है—यह उदारता है। इस जमावट में एक उजलापन हो सकता है। यह कान्ति है।

सरसरे तौर से देखने से लगता है कि वामन के ये शब्दगुण कविता में यति और लय के निर्वाह के अलग-अलग रूप हैं। पर यति और लय पाठधर्म हैं। वामन कहते हैं कि ये शब्दगुण पाठधर्म नहीं हैं। पाठधर्म तो पाठक या पढ़ने वाले के कण्ठ में या प्रतिभा में रहते हैं। ये गुण काव्य में समाहित होते हैं।

कविता में अर्थ की जमावट के भी इसी तरह कई रूप हो सके हैं। पहला अर्थ गुण ओजस् है। अर्थ की प्रौढ़ि या प्रौढ़ता ओजस् है। अर्थ प्रौढ़ हो सकता है। कहाँ केवल एक शब्द कहने से सब कह दिया जाएगा, कहाँ उसके स्थान पर कई वाक्य रखने पड़ेंगे—यह समझ प्रौढ़ि है। इसका एक रोचक उदाहरण बाद के टीकाकारों ने दिया है—अभिसारिका। कवि यह भी कह सकता है कि अभिसारिका जा रही है या वह फिर यह भी कह सकता है—

उसके साथ नहीं है कोई/है बस केवल/उसका साहस/बाहर है गहरा अँधियारा/मन में केवल उसके/एक चमक/

रात अँधेरी/और वह चली जा रही/प्रिय से मिलने/प्राण हथेली पर रखकर।

घुँघुरू उसने कस कर बाँध लिए हैं/छमछम उनकी पावों में ही/रह गई ठहर/कंगनों की खनक/थमी रह गई है हाथों के भीतर।

काले अपने कुंचक में/छिपा लिया है उसने अपना मुख/अँधेरे से/हो गई है वह एकमेक/ज्योति की एक रेख/है बस उसके मन के भीतर।

अर्थ अनेक क्रियाओं की लड़ी में गुँथ कर आता है (क्रम), इन क्रियाओं से बाँकापन आ जाता है (कौटिल्य), फिर वह परिचित लगने लगता है (अनुल्बणत्व) और उसकी युक्ति खुल जाती है (उपपत्ति)। यह क्रम, कौटिल्य अनुल्बणत्व और उपपत्ति इन चारों को लगातार बिठाते जाना श्लेष है। श्लेष का सीधा अर्थ है जुड़ाव। ऐसा जुड़ाव जो अन्विति ला देता है। शास्त्रों में जिसे महाकाव्य कहा गया है, उसका तत्त्व वामन श्लेषगुण के द्वारा निरूपित करते हैं। महावाक्य कई वाक्यों का समुच्चय होता है, पर इन वाक्यों में एकवाक्यता रहती है। सारे वाक्य मिलकर एक वाक्य बना देते हैं। वामन कहते हैं कि श्लेष का अच्छा उदाहरण मृच्छकटिक है। मृच्छकटिक की पूरी संरचना को समझने के लिए वामन ने श्लेष का यह कारगर मापदंड प्रस्तुत किया है। हर अंक में हम क्रम, कौटिल्य, अनुल्बणत्व और उपपत्ति का निर्वाह देख सके हैं और पूरे मृच्छकटिक के बृहत् फलक पर भी इनका विन्यास पहचान सकते हैं। शकार और विट वसन्तसेना का पीछा कर रहे हैं। वह बार-बार उनके चंगुल में आते-आते बचकर आगे बढ़ती जाती है। क्रम और कौटिल्य दोनों यहाँ गुँथ कर चलते हैं। फिर अचानक जिस घर में बचने को घुस जाती है, पता चलता है कि वह तो उसके प्रिय चारुदत्त का है। यही अनुल्बणता है। अंक का अवसान वसन्तसेना के द्वारा चारुदत्त को अपने अलंकार सौंपने और चारुदत्त के द्वारा उसे उसके घर पहुँचाने की उपपत्ति के साथ होता है। दूसरे अंक से फिर वही क्रम और कुटिलता और फिर पहचान के साथ समाधान।

अर्थ में क्रम का भेद न होना समता है। क्रमभंग दोष को यदि बड़े फलक पर देखा जाए, तो उसके परिहार से समता गुण बनता है। ऊपर उदाहृत श्लेष का आरम्भ भी क्रम से होता है, पर यहाँ क्रम का विन्यास सम्पूर्ण संरचना में निभा कर किया जाता है।

वामन ने अर्थ की दृष्टि को समाधि गुण कहा है। कविता की वस्तु को कविप्रतिभा के द्वारा देखना समाधि है। वामन कहते हैं कि अवहित (एकाग्र और जागरूक) चित्त ही अर्थ को देखता है। इस तरह समाधि गुण का साक्षात् संबंध कविव्यापार या काव्यरचनाप्रक्रिया से है। कविप्रतिभा का पदार्थ को देखना और उसे रूपान्तरित करना समाधि है। इसे देखने में वस्तु का कुछ रूप जस का तस प्रकट होता है, कुछ उसमें नया जुड़ जाता है। इस आधार पर वामन ने काव्यगत अर्थ के समाधिगतनिरूपण की दृष्टि से दो प्रकार बताए हैं—अयोनि और अन्यच्छायायोनि। अन्यच्छायायोनि विदित अर्थ है। इसमें नवीनता विन्यास की

विशेषता या कहने के ढंग के कारण आती है। अयोनि अर्थ में कविकल्पना वस्तु के ऐसे पक्ष खोल देती है, जो लोकव्यवहार में अविदित हों।

वामन ने अयोनि और अन्यच्छायायोनि दोनों तरह के अर्थों को समाधि गुण में रखा है। इसलिए अर्थ की दृष्टि तो दोनों में रहती है, चाहे सर्वथा अछूती परिकल्पना हो या पहले से विदित अर्थ को प्रस्तुत किया जा रहा हो।

वल्लभदेव ने अपनी सुभाषितावली में दुर्गत नाम के कवि के एक श्लोक का भिन्न पाठ यह रखा है—

इत्यापन्नशिशूनसून् विजहतः सम्प्रेक्ष्य झिल्लीरवै-
र्लूतातन्तुवितानसंवृतमुखी चुल्ली चिरं रोदिति॥

([दरिद्र के घर में] आपद्ग्रस्त शिशुओं को जो प्राण छोड़ने वाले हैं, देखकर मकड़ियों के जाले में मुँह छिपाये चूल्हा झिल्ली का झंकार के द्वारा बड़ी देर से रो रहा है।)

झिल्लियों की झंकार में चूल्हे का रुदन सुनना और मकड़ियों के जाले में चूल्हे का मुँह छिपाना एक अर्थदृष्टि है। यदि इसके पहले किसी कवि ने ऐसा अर्थ नहीं देखा, तो यह अयोनि अर्थ है। नागार्जुन के 'बहुत दिनों तक चूल्हा रोया' में आकर यही अन्यच्छायायोनि अर्थ बन जाता है।

अर्थ की प्रकृति के आधार पर इसके दो भेद हैं—व्यक्त और सूक्ष्म। व्यक्त तुरत खुलने वाला अर्थ है। सूक्ष्म अर्थ व्यंजनावादियों का व्यंग्यार्थ है। यह दो प्रकार का हो सकता है—भाव्य और वासनीय। शीघ्रनिरूपण से गम्य हो जाने वाला अर्थ भाव्य है, एकाग्रता के प्रकर्ष से गम्य होने वाला अर्थ वासनीय है। मम्मट ने अगूढव्यंग्य और गूढ व्यंग्य की परिकल्पना सम्भवतः वामन के इन्हीं दो भेदों के आधार पर की है।

मकड़ियों के जाले में मुँह छिपाए चूल्हा झिल्ली की झंकार के द्वारा बड़ी देर से रो रहा है—इस अर्थ में एक अर्थ छिपा हुआ है कि चूल्हा कई दिनों से जला नहीं है, इसलिए उस पर मकड़ियों ने जाला बुन लिया है। यह भाव्य अर्थ है।

कालिदास के नाटक में शकुन्तला का अधूरा चित्र देखता हुआ दुष्यन्त कहता है—"अभी इसमें मालिनी नदी बनानी है जिसके रेतीले तट पर हंसों के जोड़े दुबके हों, उसके पीछे हिमालय की पावन ढलानें चित्रित करनी हैं, उसके पास एक पेड़ जिसकी डाल पर तपस्वियों ने सूखने के लिए अपने वल्कल लटकाएँ हों और उसके नीचे बनाना चाहता हूँ कृष्णमृग के सींग पर वाम नयन खुजाती एक मृगी।"

चित्र में बनने से रह गए दृश्य दुष्यन्त के मनोरथ हैं, उन मनोरथों में उसके अपराध बोध और उसकी कचोट बसी हुई है। यह वासनीय अर्थ है। कविता के पुष्प में सुवास की तरह यह रहता है।

सौकुमार्य अर्थ का परिष्करण है। वामन ने इसका लक्षण किया है—अपारुष्यं सौकुमार्यम्। पारुष्य (रफनेस) का विपर्यय सौकुमार्य है। वामन का आशय यह लगता है कि जीवन में आस्था है, तो उससे रचना में एक विशेष सौन्दर्य आ जाता है। स्पष्ट ही सौकुमार्य से वामन का आशय नज़ाकत से नहीं है, ग्रेस से है। अनास्था और हताशा के द्वारा रचना नहीं हो सकती, यदि होता भी है, तो उसमें पारुष्य रहेगा। वामन ने इसके ये उदाहरण दिए हैं—गच्छ (जाओ) के स्थान पर कहा जाता है—साधय (अपने कार्य में सिद्धि पाने के लिए प्रस्थान करो)। कोई मर गया—इसके स्थान पर कहा जाता है—वह यशःशेष हुआ। कोई अकेला जा रहा है इसके स्थान पर कहा जाता है कि वह देवता के साथ जा रहा है। शाकुन्तल में अनसूया को राजा दुष्यन्त से पूछना यह है कि आप किस राजघराने के हैं, कहाँ से आ रहे हैं, यहाँ आप किसलिए चले आए। वह सवाल इस तरह करती हैं—

राजर्षियों के किस वर्ष को आर्य ने अलंकृत किया है? किस देश को अपने विरह से उत्कंठित बनाया है? और किस कारण से अपने सुकुमार रूप को तपोवन में आगमन के परिश्रम का पात्र बनाया है?

स्पष्ट ही पदावली की कोमलता से या कोमल पदार्थ के निरूपण से कविता में सौकुमार्य गुण नहीं आ जाता।

वामन से प्रेरित होकर कुन्तक ने तीन प्रकार के कवि तथा उनके त्रिविध मार्ग बताए—सुकुमार, विचित्र और उभयात्मक। सुकुमार कवि से आशय कोमल भावनाओं वाले कवि से नहीं है। प्रतिभा का परिस्पन्द अनायास होना उसका सौकुमार्य है।

उदात्तता का लक्षण वामन ने किया है—अग्राम्यत्वमुदारता। उक्ति को गँवारूपन से मुक्त रखना उदारता है। सौकुमार्य और उदारता ये दोनों गुण आधुनिक अर्थ में उदात्त की अवधारणा को समाहित करते हैं।

वामन ने गुणों की सम्प्लवात्मकता की बात की है। उन्होंने कहा कि प्रसाद और ओजस् जैसे विरुद्ध प्रकृति के प्रतीत होने वाले गुण भी कविता की एक-एक उक्ति में एक-दूसरे में भिद कर आ सकते हैं। फिर समाधि, सौकुमार्य और उदात्तता जैसे गुण तो एक-दूसरे के साथ सम्प्लव बना कर ही आएँगे।

वस्तु के स्वभाव या अपने स्वरूप का स्पष्ट झलक उठना अर्थव्यक्ति है। वामन ने इसके उदाहरण में पल्वल में खिले सफेद कमल का यह वर्णन उद्धृत किया है—

पृष्ठेषु शङ्खशकलच्छविषु च्छदानां राजीभिरङ्कितमलक्तकलोहिनीभिः।
गोरोचनाहरितबभ्रुबहिःपलाशमामोदते कुमुदमम्भसि पल्वलस्य॥

कुमुद महक उठे पोखर में
शंख की तरह अमल धवल

पंखुड़ियों के पीछे-पीछे
पड़ती हैं सूरज की किरणें
तो लग जाती है महावर उनके किनारों पर
अपने वृन्त पर गोरोचना में रंगे से वे दिखते हैं हरे-हरे
बाहर भूरे पत्तों से घिरे-घिरे।

यह अर्थव्यक्ति प्रसाद गुण से अलग है, इसी से जाति या स्वभावोक्ति तथा उन सारे अलंकारों की सृष्टि होती है, जिन्हें अलंकारवादी आचार्यों ने वास्तव-मूलक या यथार्थमूलक अलंकार कहा।

कान्ति नामक गुण में वामन ने रस के सारे भेदोपभेदों को समाहित कर लिया है। रस का उद्दीप्त होना ही कान्ति है। जिस तरह सुन्दर रमणी की काया में कान्ति रहती है, उस तरह कविता में रस। इस दृष्टि से रस कविता की आवयविक सत्ता में ही समाहित है।

आनन्दवर्धन वामन के कान्ति गुण के इस प्रतिपादन का निहितार्थ समझ रहे थे। उनके यहाँ तो ध्वनि का भी सार रस है। वही रस यदि कविता की संरचना में गतार्थ मान लिया जाएगा, तो ध्वनि की ही स्वतन्त्र सत्ता कहाँ रहेगी? उन्होंने काफी सँभलकर ध्वन्यालोक ३।३३ की वृत्ति में वामन की दृष्टि से उठने वाले इस प्रश्न का समाधान दिया है। वे कहते हैं कि जैसे काया के दिखते ही उसकी उजास भी साथ ही दिख जाती है, ऐसे ही कविता की काया के दिखते ही उसके प्रतीयमान या ध्वनि का अनुभव हो सकता है क्या? वाच्य के बोध और व्यंग्य की प्रतीति में पौर्वापर्य रहता है।

जिस तरह गुण सम्प्लवात्मकता में एक-दूसरे से जुड़े हैं, उसी तरह गुणों में (अवान्तर कोटि के) अलंकार आ जुड़ते हैं। ऊपर सौकुमार्य, समाधि, उदात्त आदि गुणों के जो उदाहरण दिए गए हैं, उनमें उपमा उत्प्रेक्षा, जाति आदि अलंकार गुम्फित हैं।

फूल के बन्ध में पराग, पंखुड़ियों और रंग रूप—ये सब समाए हुए हैं। कविता के बन्ध में भी उसके गुण, अलंकार, रस आदि बँधे हुए हैं। फूल के सबसे नीचे की आधारभूत हिस्सा उसका वृन्त है। उसके ऊपर आशाबन्ध रहता है, जिसेमं सारी पंखुड़ियाँ गुँथीं होती हैं। पंखुड़ियों में फूल का विन्यास और रंग रहता है। उसका सौरभ भी उसी में बसा है, उसका रस भी, जिसे वामन कान्ति कहते हैं। वामन समाधिगुण के अन्तर्गत वासनीय अर्थ की बात कहते हैं। वासनीय अर्थ वह है जिसमें फूल के सौरभ की तरह कोई अन्य गूढ़ अर्थ रमा हुआ है। कुल मिलाकर कविता के प्रत्ययवादी सौन्दर्यशास्त्र के समानान्तर संरचनावादी सौन्दर्यशास्त्र की परिपूर्ण रूपरेखा वामन उपन्यस्त करते हैं।

गुणों के इस अप्रतिम विमर्श के साथ ही वामन ने एक और महत्वपूर्ण और नई अवधारणा भारतीय काव्यचिन्तन में जोड़ी। वह है काव्यपाक की अवधारणा। काव्य में प्रत्येक अंग पूरी तरह सधा हो, तो उससे जो चमक इसमें आ जाती है, वह काव्यपाक है। पाक वास्तव में कविता में परिष्कार की पराकाष्ठा है, जहाँ सर्वोत्तम और सर्वाधिक उचित शब्द सर्वोत्तम और सर्वाधिक उचित अर्थ को व्यक्त करते हैं। पाक को भामह की परिभाषा में सौशब्द्य भी कहा जा सकता है। पर वामन ने पाक को परिभाषित करते हुए कहा—

गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।

समग्र रूप से गुण स्फुट हो उठे, तो यह समग्रता काव्यपाक है। काव्यपाक वामन में श्रेष्ठ कविता का एक मानदण्ड भी है। उन्होंने इसे काव्यरचना प्रक्रिया से जोड़ते हुए अवेक्षण नामक तत्त्व की चर्चा की। अवेक्षण का अर्थ कवि की जागरूकता है। वामन कहते हैं—पदानामाधानोद्धरणमवेक्षणम्। पदस्य आधानं न्यासः। उद्धरणमपसारणम्। तयोः खल्ववेक्षणम्। अत्र श्लोकौ—

आधानोद्धणे तावद् यावद् दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती॥
यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यायनिष्णाताः काव्यपाकं प्रचक्षते॥

पदों का विन्यास या यथोचित विनिवेश आधान है, उन्हें हटाना अपसारण है। पदों के आधान और उद्धरण की प्रक्रिया अवेक्षण है। इस संबंध में कहा गया है—आधान और उद्धरण के समय कवि का चित्त दोलायमान होता है। उचित पद का निश्चय करके वह उसका प्रयोग कर लेता है, तो सरस्वती उसे सिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रिया में पद परिवृत्तिसहिष्णुता (उनके विकल्प में दूसरे पदों के प्रयोग की अपेक्षा) को त्याग देते हैं। शब्द की नीति को जानने वाले इसी को काव्यपाक कहते हैं।

इस तरह वामन ने रीति और काव्यपाक के द्वारा काव्यरचना प्रक्रिया को लेकर भी महत्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत किए हैं। कुल मिलाकर वामन भामह और दण्डी के बाद की वह महत्वपूर्ण कड़ी प्रस्तुत करते हैं, जिसे लेकर कुन्तक ने काव्यशास्त्र में एक और समग्र सिद्धांत रचा।

●

अध्याय-६

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन को संस्कृत काव्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धांत की स्थापना करने और उसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय दिया जाता है। वे कश्मीर में हुए। उनका समय नवीं शताब्दी है। उनके कुछ समय बाद ही कल्हण हुए। कल्हण ने राजतरंगिणी लिखी, जो भारतीय इतिहास का एक विलक्षण ग्रंथ होने के साथ-साथ एक महान् काव्य भी है। कल्हण ने आनन्दवर्धन का उल्लेख करते हुए बताया है कि राजा अवंतिवर्मा (८४५-८८४ ई.) के शासनकाल में चार साहित्यकार प्रसिद्ध हुए—मुक्ताकण, शिवस्वामी, कवि आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

(कल्हण : *राजतरंगिणी,* ५।३९)

कश्मीर कविता और कला में क्षेत्र में उस समय अपनी एक आवाज और अलग रोशनी बिखेर रहा था। आनन्दवर्धन ने अपनी काव्यशास्त्र की पुस्तक का नाम रखा—'ध्वन्यालोक' (ध्वनि पर आलोक या ध्वनि का आलोक)। इस नाम का चलताऊ अनुवाद किया जाए तो बनेगा—आवाज की रोशनी या आवाज पर रोशनी। यह अलग बात है कि आनन्दवर्धन के सिद्धान्त में 'ध्वनि' का शास्त्रीय अर्थ आवाज नहीं है। पर ध्वनि के तकनीकी अर्थ को भी आवाज से अलग नहीं किया जा सकता। आनन्दवर्धन ने स्वयं लिखा है कि वैयाकरण भाषा के उन वर्णों या अक्षरों को ध्वनि कहते हैं, जिन्हें हम सुनते हैं। ये सुने जाने वाले वर्ण सार्थक शब्द बनकर मनुष्य के मस्तिष्क में अर्थ को व्यंजित या स्फुटित करा देते हैं। उसी तरह काव्य में भी बोले जाने वाले शब्द और उनके अर्थ सहृदय के चित्त में उसके गूढ़ अर्थ को व्यंजित करा देते हैं। जिस तरह वैयाकरणों ने नित्य शब्द या अर्थ के व्यंजक वर्ण समुदायभूत शब्दों को ध्वनि कहा, वैसे ही काव्य के क्षेत्र में उनका अनुगमन करने वाले आचार्यों या सहृदयों ने शब्द और अर्थ के ऐसे साहित्य को ध्वनि कहा, जो काव्य के सारभूत चमत्कारकारी अर्थ को व्यक्त कर देते हैं।

यह आनन्दवर्धन की ही बुद्धिमत्ता लगती है कि उन्होंने ध्वनिसिद्धांत को स्थापित करने के लिए ध्वनिशब्द का आधार लेकर व्याकरण के स्फोट-सिद्धांत से उसे जोड़ दिया। व्याकरण दर्शन स्वतः ध्वनिसिद्धांत के लिए कोई पीठिका

जुटाता हो ऐसा नहीं है। वहाँ तो उस व्यंजनावृत्ति तक को बाद में स्वीकार किया गया, जो आनन्दवर्धन के सिद्धांत की रीढ़ है। यह सही है कि व्याकरण में स्फोटसिद्धांत का प्रतिपादन पाणिनि के भी पहले कदाचित् स्फोटायन नाम के आचार्य कर चुके थे। पतंजलि ने इस सिद्धांत का थोड़ा हवाला दिया है। आठवीं शताब्दी में आकर भवभूति सुस्पष्ट संकेत देते हैं कि उन्हें इस सिद्धांत की गहरी समझ है। इसके साथ ही वाक्यपदीयम् जैसा प्रौढ़ परिष्कृत ग्रंथ इस सिद्धांत पर रचा जाता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि काव्यशास्त्र में ध्वनिवादियों ने व्याकरण के एक सिद्धांत की आड़ ली, उससे वैयाकरणों का ध्यान अपने एक भूले बिसरे सिद्धांत की ओर गया और उन्हें लगा कि इसमें तो भाषा और व्याकरण का दर्शन खड़ा किया जा सकता है। भर्तृहरि का वाक्यपदीयम् श्लोकों में रचा गया। इसके पहले व्याकरण के ग्रंथ ज्यादातर या तो सूत्रों में रचे गए थे या गद्य में भाष्य अथवा वृत्ति के रूप में। संभवतः यह समकालीन काव्यविमर्श का प्रभाव है कि भर्तृहरि काव्यात्मकता की झलक देने वाले पद्यों में व्याकरण का ग्रंथ लिखते हैं।

यह आनन्दवर्धन की विवशता थी कि अपने सिद्धांत की नींव डालने के लिए उन्हें एक दार्शनिक भित्ति चाहिए थी, तो उन्होंने व्याकरण से वह उठा ली।

आनन्दवर्धन के सिद्धांत का मूलभूत वैचारिक ढाँचा दो शब्दों के द्वारा जाना जा सकता है—इशारा और गूँज। कविता के शब्द और अर्थ कुछ कहने के लिए इशारे बन जाते हैं और वे गूँज पैदा करते हैं। आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भेदों में एक भेद का नाम भी अनुस्वानसन्निभ (१/२०), अनुरणनरूपव्यंग्य (१/२१ की वृत्ति) या 'अनुस्वानोपमव्यंग्य' (२/२५) रखा। अनुरणन या अनुस्वान का अर्थ गूँज है। ध्वनिसिद्धांत इस तरह वास्तव में ध्वनि का नहीं, प्रतिध्वनि का सिद्धांत है।

इस अनुरणनरूपव्यंग्य के विषय में आनन्दवर्धन ने यह विशेष बात कही कि वह प्रबंध (पूरे के पूरे महाकाव्य, नाटक आदि) में भी भासित होता है (३।१५)। अर्थात् काव्य में एक-एक शब्द गूँज पैदा करता है, वाक्य भी अपनी गूँज पैदा करता है। साथ ही एक पूरी कविता की अपनी गूँज होती है। एक पूरे प्रबंध (महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि) की अपनी एक गूँज हो सकती है।

काव्य के दो पक्ष हैं—एक संघटना और दूसरा प्रतीति। इन्हीं को आनन्दवर्धन ने वाच्य और प्रतीयमान कहा है और उन्होंने दोनों पर बराबर वजन रखा है। यह बात अवश्य है कि ध्वन्यालोक में चर्चा दूसरे पक्ष—प्रतीयमान—की हुई है। आनन्दवर्धन का कहना है कि वाच्य या संघटना पक्ष पर अन्य आचार्यों भामह आदि ने बहुत चर्चा की अतः हम प्रतीयमान पर अपनी बात रखेंगे।

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः ततो नेह प्रतन्यते॥

आनन्दवर्धन ने जो प्रस्थान काव्यशास्त्र को दिया, उससे एक तकनीकी शब्द और उभरा—संकेत। शब्द संकेत करता है—यह तो बहुत पहले बताया गया था, पर ध्वनिवाद ने उसमें यह बात जोड़ी कि अर्थ भी दूसरे अर्थ का संकेत करता है। यह संकेत कुछ छिपाकर किया जाता है। यह सही है कि व्याकरण दर्शन में संकेत का एक खास तकनीकी अर्थ है। पर यह अर्थ भी, ध्वनि के तकनीकी अर्थ की तरह ही, संकेत शब्द के लोक में स्वीकृत अर्थ—इशारे—से बहुत हट कर नहीं है। संकेत सहज परिस्थितियों में नहीं दिया जाता। संकेत छिपकर प्रेम करने वाले एक दूसरे को देते हैं या युद्ध संघर्ष की स्थितियों में समर में रत सेनानी छिपाकर संकेत भेजते हैं।

जिस तरह ध्वनि शब्द आनन्दवर्धन या ध्वनिवादियों ने कविता पर होने वाली अपनी चर्चाओं में ईजाद किया और उसे बाद में व्याकरण दर्शन से जोड़ दिया, उसी तरह संकेत शब्द भी ऐसी ही चर्चाओं में ईजाद हुआ होगा। उसका स्रोत तो लोक जीवन में ही हो सकता था। संकेत शब्द प्रेमी और प्रेमियों के बीच इस्तेमाल होने वाली उस इशारेबाजी के लिए प्राकृत या संस्कृत की उन कविताओं में बहुधा आता है, जिन्हें आनन्दवर्धन या उनके अनुयायी उद्धृत करते आए हैं। संकेत ही नहीं, संकेत-काल, संकेत-स्थान आदि शब्द जो इन काव्यों में आए हैं, बताते हैं कि प्रेम करने वालों ने संकेत का एक पूरा प्रस्थान रच लिया था।

आनन्दवर्धन का सौन्दर्यशास्त्र कविता के शब्दों और अर्थों से होने वाले इशारों और उनकी गूँज और अनुगूँज का शास्त्र है। ध्वनि, संकेत और प्रतिध्वनि का यह सौन्दर्यशास्त्र कश्मीर में जन्मा, तो इस बात के भी सांकेतिक अभिप्राय हैं। कश्मीर आनन्दवर्धन के हजारों वर्ष पहले से ही दुर्दांत आक्रमणकारियों का प्रवेश द्वार था।

हमले तो सीमा पार से कश्मीर पर उस समय भी हो रहे थे। कई दुर्दांत मिहिरकुल और तोरमाण इस धरती को रौंद चुके थे। फिर भी कुछ लोग इन हमलों और रक्तपात के चलते कला, संगीत, साहित्य की दुनिया में रमे रहते। पहले खेवे के भामह और दंडी तथा बाद के आचार्यों में विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ या अप्पय दीक्षित जैसे दो चार आचार्यों को छोड़ दें, तो संस्कृत काव्यशास्त्र के सारे जाज्ज्वल्यमान नक्षत्र कश्मीर के क्षितिजपर ही चमके—वामन से लगा कर आनन्दवर्धन, कुंतक, महिमभट्ट, अभिनवगुप्त, क्षेमेंद्र, रुद्रट, रुय्यक, मंखक और मम्मट। मम्मट के बाद आनन्दवर्धन के प्रस्थान का कोई मुखर प्रवक्ता कश्मीर में शायद नहीं हुआ। मम्मट ने उनके प्रस्थान को परम शिखर पर भी पहुँचाया और उसे चुकता भी कर दिया।

शायद लगातार हो रहे हमलों, युद्धों और संघर्षों के बीच लिखने और रचने का ही परिणाम है कि ध्वन्यालोक का जो पहला श्लोक आनन्दवर्धन ने लिखा है, उसमें कोई लालित्य, शृंगार या सौकुमार्य नहीं है। यह मंगल श्लोक नरसिंह की स्तुति का है, पर इसमें नरसिंह से कोई प्रार्थना नहीं की गई। केवल कामना की गई है कि नरसिंह के नख आप-हमको बचाएँ। इस पद्य में वीररस अन्तर्गुम्फित है।

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः॥

(स्वेच्छा से केसरी बने
मधुरिपु के
शरणागत की कातरता को चीर देने वाले वे नख
बचाएँ आपको
जिन्होंने अपनी स्वच्छ छाया से
क्लेश में डाल दिया है
चन्द्रमा को।)

इस श्लोक में नृसिंह के नखों के लिए एक विशेषण आया है—स्वच्छ-स्वच्छायायासितेन्दवः (स्वच्छ अपनी कांति से तकलीफ में डाल दिया है जिन्होंने चन्द्रमा को)। इसकी व्याख्या अगर स्वयं आनन्दवर्धन के ही पैमानों से करें, तो यह व्यतिरेक अलंकार के द्वारा एक प्रसिद्ध उपमान के तिरस्कार को व्यंजित करता है। और भी ध्वनित अर्थ की शृंखला इसमें खोजें, तो कह सकते हैं कि यह अंततः अलंकारवादियों के सारे मानदंडों का भी तिरस्कार सूचित करता है। चन्द्रमा का रूढ या पुराना उपमान नरहरि के चमकीले और शत्रु को चीर देने वाले नखों के आगे मैला ही नहीं, निष्प्रभ भी लगता है—यह ध्वनि यहाँ है। आनन्दवर्धन की पारिभाषिक शब्दावली में यह अभिधामूल ध्वनि के अन्तर्गत अलंकार से वस्तु की व्यंजना का उदाहरण कहा जा सकता है। विष्णु के लिए कवि आनन्दवर्धन ने नाम यहाँ रखा है—मधुरिपु। यह सत्य है कि मधुरिपु विष्णु का पर्याय है। पर अन्य सारे पर्याय छोड़कर मधुरिपु ही क्यों? नृसिंह जैसे भीषण और सारे माधुर्य तथा लावण्य के विपर्यय जैसे भासित होने वाले अवतार के संदर्भ में यह नाम अपनी अलग ही व्यंजना प्रकट करता है। कुंतक की शब्दावली में यह पर्यायवक्रता का नमूना है और आनन्दवर्धन के सिद्धांतों के अनुसार यहाँ पदप्रकाश्यध्वनि है। मधु मीठे को भी कहते हैं और वसंत को भी। मधुरिपु को मिठास और वसंत के द्वंद्व में यहाँ लाया गया लगता है। पूरे श्लोक में च-छ का जो अनुप्रास बनाया गया है, वह चीरफाड़ की ध्वनि प्रकट करता हुआ नरसिंह के

द्वारा हिरण्यकशिपु के वक्ष के छेदन की क्रिया का व्यंजक है। फिर भी आनन्दवर्धन की दृष्टि में ये नख शत्रु या हिरण्यकशिपु का वक्ष चीरने वाले नहीं, प्रपन्न या शरणागत के आर्तभाव को चीर देने वाले हैं। यह आर्तभाव को चीर डालने की क्षमता इन नखों का चन्द्रमा से व्यतिरेक या उत्कृष्ट होने का कारण भी है। आखिर चन्द्रमा आर्तभाव को चीरने में समर्थ नहीं है।

आनन्दवर्धन का पूरा प्रस्थान वास्तव में कविता को एक सिद्ध वस्तु के रूप में न देखकर उसे एक संभावना के रूप में देखता है। उसे नए सिरे से तोड़ा, जोड़ा या लगाया जा सकता है।

अपने से पहले की पूरी आचार्य परम्परा में जो बात आनन्दवर्धन को अलग पहचान देती है वह यह है कि आनन्दवर्धन स्वयं कवि थे। उनके पहले के आचार्यों में भामह या दंडी कवि के रूप में नहीं जाने जाते। आचार्य भरत, जिनसे रसचिंतन और काव्यविवेचन की सारी परम्परा का व्यवस्थित रूप में सूत्रपात हुआ, उनको भी मुनि तो कहा जाता है, कवि नहीं।

ऊपर कल्हण की राजतरंगिणी का एक उद्धरण दिया गया है। उसमें कल्हण ने आनन्दवर्धन को एक कवि के रूप में याद किया है। चार रचनाकारों के नाम गिनाते हुए उन्होंने 'कवि' विशेषण केवल आनन्दवर्धन के नाम के साथ जोड़ा। जबकि उनके साथ गिनाए गए रचनाकारों में कम-से-कम दो— शिवस्वामी और रत्नाकर पृथुलकाय महाकाव्य रचने के लिए प्रसिद्ध हैं। संस्कृत साहित्य के इतिहासों में महाकाव्य की परम्परा में इनकी अनिवार्यतया चर्चा होती है, जबकि आनन्दवर्धन की चर्चा कवि के रूप में अब तक छपी संस्कृत साहित्य के इतिहास की पुस्तकों में नहीं की गई है। कल्हण स्वयं एक युगद्रष्टा कवि हैं, कोई भी शब्द वे व्यर्थ प्रयोग नहीं करते। जिस समय की सूचना कल्हण उक्त प्रसंग में दे रहे हैं, उसके बारे में जानकारियाँ उन्होंने बहुत समझबूझकर परख कर प्रस्तुत की हैं। यहाँ तक कि अवंतिवर्मा के शासनकाल की इस चतुष्टयी में भल्लट जैसे कवि का नाम नहीं है, जो आनन्दवर्धन के समकालीन थे। भल्लट की जानकारी भी कल्हण को है और बाद में उन्होंने इस कवि की भी चर्चा की है। पर अवंतिवर्मा के समय तक भल्लट का उदय या प्रसिद्धि नहीं हुई थी, अतः भल्लट का यहाँ नाम कल्हण ने नहीं लिया। कल्हण के उल्लेख से ऐसा लगता है कि आनन्दवर्धन एक कवि के रूप में पहले जाने गए, आचार्य का दायित्व उन्होंने बाद में सँभाला।

ऐसा भी नहीं था कि कवि के रूप में असफल रहने के कारण आनन्द-वर्धन ने आचार्य के रूप में अपना मोर्चा खोला हो। उनके स्तोत्रकाव्य 'देवीशतक' की टीका व्याकरण के महान् आचार्य कैयट ने लिखी थी (९७८

ई.)। इतने बड़े वैयाकरण का देवीशतक की टीका में प्रवृत्त होना इस काव्य और उसके कवि के सम्मान का सूचक है। सुभाषित संग्रहों में बाद तक आनन्दवर्धन के श्लोक संगृहीत किए जाते रहे। अत: वे कवि के रूप में अप्रतिष्ठित रह गए हों ऐसा नहीं कहा जा सकता।

कवि भी आनन्दवर्धन पूरी परम्परा में कुछ अलग तरह के थे। वे कदाचित् पहले कवि हैं, जो प्राकृत में स्वतंत्र रूप से खंडकाव्य या बड़ी रचना प्रस्तुत कर रहे हैं। प्राकृत में रचनाएँ उनके कम-से-कम एक हजार साल पहले से होती आ रही थीं। पर ये गाथाएँ या मुक्तक कोटि की रचनाएँ थीं। आनन्दवर्धन ने 'विषमबाणलीला' नाम से एक स्वतंत्र खंडकाव्य प्राकृत में लिखा था, जो लुप्त हो गया, पर आनन्दवर्धन ने ही इसकी एक गाथा अर्थांतरसंक्रमितवाच्यध्वनि के उदाहरणस्वरूप अपने ग्रंथ में उद्धृत की है। दूसरी ओर उन्होंने 'देवीशतक' नाम से एक काफी दुरूह चित्रकाव्य देवी की स्तुति में लिखा और अर्जुनचरित नाम से संस्कृत में महाकाव्य भी रचा।

आनन्दवर्धन पहले आचार्य हैं, जिन्होंने प्राकृत कविता का नोटिस लिया। समग्र भारतीय साहित्य की अवधारणा प्रस्तुत करने और काव्यशास्त्र को उससे जोड़ने का पहला गंभीर प्रयास उनके ध्वन्यालोक में दिखता है। आनन्दवर्धन के ग्रंथ में आद्यंत प्राकृत गाथाओं के उदाहरणों की भरमार है। ध्वन्यालोक में पाँचवीं कारिका में प्रतीयमान या ध्वनित अर्थ के अनोखेपन की चर्चा की गई है। इस अनोखेपन को साबित करने के लिए आनन्दवर्धन ने पाँच पद्य उद्धृत किए हैं। ये पाँचों उदाहरण वाल्मीकि या कालिदास जैसे उनके प्रिय कवियों से न होकर प्राकृत की उन गाथाओं के हैं, जो उस समय लोकप्रिय रही होगीं, जिन्हें आम लोग भी गाते रहे होंगे। यह बात दूसरी है कि ध्वन्यालोक में पहला ही उदाहरण जो उन्होंने हाल द्वारा संकलित गाहासतसइ का दिया, उसे लेकर महिमभट्ट ने जमकर उनकी छीछालेदर की।

जो पाँच उदाहरण आनन्दवर्धन ने अपने सिद्धांत की भूमिका रचते हुए ध्वन्यालोक की चौथी कारिका में उदाहरण के रूप में रखे हैं, उनमें ऊपरी तौर पर कोई अलंकार नहीं है। शायद प्राकृत कविता से उदाहरण चुनने का एक कारण यह भी था कि संस्कृत का कवि जो लिखता, उसमें कहीं न कहीं से कोई अलंकार आ ही जाता। प्राकृत की जिस काव्यधारा हाल ने गाहासतसई से बहाई, वह निरलंकार काव्य है। आनन्दवर्धन के द्वारा उद्धृत इन पाँचों श्लोकों के अनुवाद यहाँ दिए जा रहे हैं, जिससे जाना जा सकता है कि आनन्दवर्धन वक्रता, विदग्धता और अलंकारों से सम्पन्न कविता को छोड़कर ऐसी कविता का आधार अपना सिद्धांत गढ़ने के लिए क्यों ले रहे हैं—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइ कच्छकुडंगवासिणागदरिअ सीहेण॥

पुजारीजी! आप निश्‍चिंत होकर घूमिये,
क्योंकि (जो कुत्ता आपको यहाँ घूमने आने पर तंग करता था)
उस कुत्ते को मार दिया गया है,
गोदावरी नदी के कछार के कुंज में रहने वाले
एक डरावने शेर के द्वारा।

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि।
मा पडिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाएए मह णिमज्जहिसि॥

मेरी सास यहाँ नींद में होती है बेसुध
और मैं यहाँ सोती हूँ,
दिन में ही देखभाल लो,
नहीं तो हे रतौंधी के मारे बटोही,
कहीं रात में इधर आकर
हमारी सेज से टकरा कर गिर न जाना।

वच्च मह व्विअ एक्केइ होंतु णीसासरोइअव्वाअं।
मा तुज्ज वि तीअ विणा दिक्खण्णहअस्स जाअन्तु॥

जाओ तुम। साँसें छोड़ना और रोना
रहने दो मेरे लिये ही।
उसके बिना
तुम्हारे लिये न हों ये
भलमनसाहत में तुम क्यों मारे जाओ?

दें आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्लाविलुत्ततमोणिवहे।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे॥

मैं कहती हूँ मान जा
लौट आ।
अपने मुँह की चाँदनी से अँधेरा दूर कर
अरी मुई तू दूसरी अभिसारिकाओं के लिए विघ्न बन रही है।

कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरम्।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्बिम्॥

किसको भला रोष न आएगा
अपनी प्रिया के अधर पर घाव का चिह्न देखकर?
मैंने पहले रोका नहीं था तुझे

कि उस कमल में भौंरा है
जिसे तू सूँघ रही है
अब तू भोग।

यह उस समय की लोकप्रिय कविता थी, जिसमें अनुप्रासों की लड़ियाँ नहीं, यमक के झमेले नहीं, श्लेष का निखार नहीं, उपमा और उत्प्रेक्षाओं का चमत्कार नहीं। इसमें बहुत सीधे-सीधे शब्द और अर्थ हैं, जो इशारे करते हैं और गूँज पैदा करते हैं। इन कविताओं में जिन चरित्रों की बातचीत है, वे भी परस्पर संकेत करते हैं, बहुत कुछ सुनने वाले के लिए समझने को छोड़ देते हैं। एक और बात इन पाँचों गाथाओं में है कि वे जीवन की अलग-अलग छवियों को विन्यस्त करती हैं। उनमें शाम को प्रिय से मिलने को गोदावरी के किनारे आने वाली स्वैरिणी नायिकाएँ हैं, जो किसी धार्मिक या पुजारी के वहाँ उसी समय घूमने टहलने आ धमकते रहने से परेशान हैं या बटोही से प्रीत लगाने के लिए उसे संकेत की भाषा में कुछ समझाने वाली स्त्रियाँ हैं, अथवा खंडिता या विप्रलब्धाएँ हैं।

एक और बात जो पहले की आचार्य परम्परा से आनन्दवर्धन को अलग करती है वह यह कि रसिकों या सहृदयों का एक वर्ग है, जिसके लिए वे यह ग्रंथ लिख रहे हैं। इन रसिकों के साथ उनकी कविता को लेकर लंबे समय तक चर्चा होती रही होगी—ऐसा संकेत उनके ग्रंथ से मिलता है। शायद यह ग्रंथ ही उन्होंने अपने रसिक मित्रों के अनुरोध या आग्रह पर लिखा हो। वे आरंभ में ही कहते हैं कि सहृदयों की मन:प्रीति के लिए मैं इस ग्रंथ में ध्वनि का स्वरूप बता रहा हूँ।

कश्मीर में उस समय सहृदयों की और कवियों की गोष्ठियाँ होती रहती थीं। ऐसी एक कविगोष्ठी का जीवंत और यथातथ्य विवरण आनन्दवर्धन के कुछ बाद में हुए कवि मंख ने अपने महाकाव्य श्रीकंठचरित में दिया है। इस सहृदय समाज में होने वाली गोष्ठियों में शायद यह प्रश्न भी उठा होगा कि प्राकृत भाषा में रची हुई गाथाएँ इतनी लोकप्रिय क्यों हैं? गाथाओं में शिल्प की अनगढता थी, अलंकारों की छटा भी वैसी न थी। कुंतक ने काव्य के दो गुण आभिजात्य और सौकुमार्य माने हैं, उनका तो इनमें अभाव ही था। आनन्दवर्धन के पहले अलंकारशास्त्र के क्षेत्र में किसी आचार्य ने प्राकृत भाषा के काव्य या इन लोकगाथाओं को उदाहरण के योग्य नहीं समझा। नाट्यशास्त्र में अवश्य संगीताध्यायों में सैंकड़ों प्राकृत-गाथाएँ उद्धृत हैं, क्योंकि वे नाट्यप्रयोग में ध्रुवाओं के रूप में बीच-बीच में गायी जाती थीं। पर भामह, दंडी, वामन और उद्भट तक के आलंकारिकों ने तो इन गाथाओं को अस्पृश्य ही समझा। ध्वन्यालोक में ध्वनि की विभिन्न अवधारणाओं या कोटियों के लिए १२७ पद्य उद्धृत हैं, इनमें यद्यपि

३५ गाथाएँ ही प्राकृत की हैं, पर इतने उद्धरणों के बल पर ही पहली बार वाल्मीकि और कालिदास से लगा कर भारवि तक के महाकवियों की परम्परा के बरक्स प्राकृत की कविता की पहचान बनी और यह कविता आचार्य परम्परा में मान्य हुई। यहाँ तक कि आनन्दवर्धन के समकालीन हरविजय जैसे विशाल महाकाव्य के प्रणेता विदग्ध पंडित कवि रत्नाकर ने 'ध्वनिगाथापंजिका' नाम से एक टीका ही आनन्दवर्धन द्वारा उद्धृत प्राकृत गाथाओं को पंडित जनों के लिए बोधगम्य बनाने के लिए लिख डाली। प्राकृत की गाथाओं को पंडित जनों को समझाने के लिए उन पर पंजिका (संक्षिप्त सुबोध टीका) लिखी जाए और संस्कृत छाया बता कर उन्हें समझाया जाए, यह अघटनीय घटना आनन्दवर्धन के कारण संस्कृत साहित्य के इतिहास में संभव बनी।

आनन्दवर्धन कवि थे और कुछ अलग तरह के कवि। वे आचार्य भी हुए। पर जो बात उन्हें आचार्य परम्परा में अलग पहचान देती है, वह है—एक नए सिद्धांत को स्थापित करने और अपना एक स्कूल बनाने का संरंभ। आनन्दवर्धन के पहले रचे हुए काव्यशास्त्र के जितने ग्रंथ मिलते हैं, उनमें यह संरंभ कहीं नहीं है। उनके ग्रंथकार परिचित और स्थापित सिद्धांतों की ही व्याख्या कर रहे हैं। केवल आनन्दवर्धन अपनी पुस्तक के आरंभ में ही ध्वनिविरोधियों की विस्तार से चर्चा करते हैं, उनके उपहास, तानों और व्यंग्यबाणों का हवाला देते हैं और यह सूचित करते हैं कि विरोध और विवाद का जबरजस्त घटाटोप है, जिससे जूझते हुए वे अपनी बात कह रहे हैं। बात कह ही नहीं रहे, वे काव्यशास्त्र में एक प्रस्थान ला रहे हैं। इसलिए ध्वन्यालोक का अवतरण संस्कृत काव्यशास्त्र में एक तहलका मचा देने वाली घटना ही हुई। यह एक ऐसी पुस्तक थी, जिसके रचे जाने के पहले ही उसका जबरजस्त विरोध था। उसके रच दिए जाने के बाद तो विरोध और मुखर हुआ। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भामह, दंडी, वामन, रुद्रट और कुंतक—ये आनन्दवर्धन से कुछ पहले और कुछ बाद के बड़े आचार्य हैं। इनके ग्रंथों का साहित्य के क्षेत्र में विरोध हुआ हो, ऐसा कोई साक्ष्य नहीं मिलता, उनसे असहमति व्यक्त भले की जाती रही हो। आनन्दवर्धन का ही सिद्धांत या प्रस्थान ऐसा था, जिसके साथ द्वंद्व तथा जिसके ध्वंस के लिए अभियान चलाए गए। भट्टनायक और महिमभट्ट ये दो बड़े आचार्य आनन्दवर्धन से समय की दृष्टि से एक शताब्दी से भी कम के फासले पर हैं। दोनों ने अपने ग्रंथ आनन्दवर्धन या उनके ध्वनि सिद्धांत के विरोध में लिखे। काव्यशास्त्र में किसी एक ग्रंथ के विरोध में पूरा अन्य ग्रंथ लिखा जाए—यह परम्परा भी ध्वन्यालोक के कारण चली। भट्टनायक का हृदयदर्पण मिलता नहीं है, महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक तर्क और खंडन की पद्धति का काव्यशास्त्र में बेजोड़ नमूना है। महिमभट्ट यह भी

स्वीकार करते हैं कि महान् लोगों से संस्तव गौरव के लिए होता है—अर्थात् आनन्दवर्धन से भिड़ना उनके लिए एक बड़ा अवसर है।

ध्वन्यालोक की रचना के साथ ही इस पर चंद्रिका जैसी टीका लिखी गई और अभिनवगुप्त जैसे आचार्य ने इस पर टीका लिखी। कलाशास्त्र या काव्यशास्त्र क्षेत्र में अभिनवगुप्त की दो ही कृतियाँ हैं—नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती टीका और ध्वन्यालोक पर ध्वन्यालोकलोचन टीका। दोनों टीकाएँ होते हुए भी स्वतंत्र ग्रंथों के समान पढ़ी और पढ़ाई जाती रही हैं।

ध्वन्यालोक में ध्वनिविरोधियों के सारे पक्ष को विस्तार से उठा कर उन्हें उत्तर दिया गया है। आनन्दवर्धन इसके लिए पूरी तैयारी के साथ शास्त्रार्थ करते हैं। यह तैयारी कवियों, रसिकों और विद्वानों का एक बड़ा वर्ग तैयार करके की गई है, जो इस विवाद में आनन्दवर्धन के साथ हैं।

अपनी पुस्तक ध्वन्यालोक की पहली ही कारिका के पहले चरण में आनन्दवर्धन बताते हैं कि ध्वनि काव्य की आत्मा के रूप में बुधों या सहृदय काव्यमर्मज्ञों के बीच प्रसिद्ध था। पर उसके बारे में विवाद चला आ रहा था। इसलिए सहृदयों के मानस की प्रसन्नता के लिए वे इस ग्रंथ में ध्वनि का स्वरूप बता रहे हैं—'तस्य हि ध्वने: स्वरूपं...रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धिव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।' (*ध्वन्यालोक,* १/१ पर वृत्ति, पृ. ३८)

आनन्दवर्धन से पहले ध्वनिसिद्धांत पर कोई ग्रंथ नहीं मिलता। कुछ आचार्यों ने व्यंजनावृत्ति की चर्चा भले की हो, पर ध्वनि का कोई प्रस्थान उनके पहले स्वीकार कर लिया गया था, ऐसा किसी ग्रंथ से साक्ष्य नहीं मिलता। पहली ही कारिका में आनन्दवर्धन ने कहा है—'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्य: समाम्नातपूर्व:'—बुधों या काव्य के जानकार लोगों के द्वारा ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा जाता रहा है। यहाँ ध्वनि की चर्चा ग्रंथ में नहीं, जानकार लोगों के समाम्नाय में ही होने की बात है। यदि ध्वनि पर कोई ग्रंथ आनन्दवर्धन के पहले लिखा गया होता तो यह कैसे हो सकता था कि आनन्दवर्धन और उनके व्याख्याकार अभिनवगुप्त जैसे गहन अध्येता उसका कहीं हवाला ही न दें? आनन्दवर्धन कह रहे हैं कि ध्वनि विद्वानों या काव्यमर्मज्ञों के बीच प्रसिद्ध है। आनन्दवर्धन के पहले किसी ग्रंथ में ध्वनिसिद्धांत की बात नहीं है, काव्यशास्त्र की विदित परम्परा में उनके पहले इसकी कहीं चर्चा ही नहीं है। तो फिर ध्वनि प्रसिद्ध कहाँ है? बात साफ है। एक बुधों और सहृदयों का वर्ग है, जो ध्वनि पर चर्चा करता आ रहा है। आनन्दवर्धन बुधों और सहृदयों के इस वर्ग के या तो अगुवा हैं, या इसकी अगुवाई उन्हें सौंप दी गई है। आनन्दवर्धन ने यह जिम्मेदारी

ली है कि यह बुध-सहृदय-वर्ग जिन बातों को चर्चाओं और विवादों में उठाता आया है, उनसे वे एक नया शास्त्र रचेंगे।

अपने ग्रंथ के अंत में फिर आनन्दवर्धन कहते हैं कि यह सत्काव्यतत्त्व का सिद्धांत बहुत समय से पकी बुद्धि वाले (सहृदयों) के मनो में सोया रहा था, मैंने सहृदयों के उदय और लाभ के लिए उसी की व्याख्या की है—

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनःसु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥

एक पर्यायों का गुच्छा है, जो इन सहृदयों के लिए आनन्दवर्धन ने प्रयुक्त किया है। बुध, काव्यार्थतत्त्वज्ञ (१.७) काव्यतत्त्ववित्, सचेतस् (१/१२) मनीषी, भव्यात्मा इन्हीं सहृदयों को कहा गया है। इन सहृदयों की बुद्धि काव्य में तत्त्वार्थदर्शिनी होती है (१/१२)। वे काव्य के सही शब्द और सही अर्थ की प्रत्यभिज्ञा कर सकते हैं। इसके साथ ही एक बड़ी बात सहृदय केन्द्रित प्रस्थान से उभरी। वह यह कि कवि में रचना की प्रतिभा होती है, तो सहृदय में रचना को परखने की प्रतिभा होती है। कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा ये प्रतिभा के दो रूप माने गए। आनन्दवर्धन बार-बार सहृदयों का हवाला देकर अपनी बात को निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं। एक और शब्द आनन्दवर्धन ने सहृदय के लिये रखा है—भव्य आत्मा वाला। भव्य आत्मा वाले लोग कविता के नंदनकानन में पहुँच कर ध्वनितत्त्व को कल्पतरु बना लेते हैं—

काव्याख्येऽखिलधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः।
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम्॥

पूरे संस्कृत काव्यशास्त्र की ढाई हजार साल की विदित परम्परा में सैंकड़ों ग्रंथों का पता चलता है, उनमें शायद और कोई ऐसा ग्रंथ नहीं है जिसमें एक समूह बार-बार बोल रहा हो। भामह से लगाकर अभिनवगुप्त, मम्मट या पंडितराज जगन्नाथ तक बड़े चिंतकों या आचार्यों ने जो ग्रंथ लिखे, वे उनके अपने अध्ययन, मनन, चिंतन से उपजे हैं। ध्वन्यालोक ऐसा ग्रंथ है, जो साहित्यकारों, कवियों और काव्यमर्मज्ञों के बीच उठ रही चर्चा और बहस को विन्यस्त करता है। इस विन्यास के पीछे एक बहुत मँजे हुए अध्येता की दृष्टि और रणनीति है।

आनन्दवर्धन के पहले की जितनी काव्यशास्त्र की विदित परम्परा हम जानते हैं, उसमें सहृदय अनुपस्थित ही है। केवल भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति पर विचार करते हुए सुमनस्-प्रेक्षक की बात की है। पर वहाँ नाट्यप्रयोग के दर्शक

की बात है। काव्यशास्त्र में सहृदय का अवतरण ही आनन्दवर्धन ने कराया। पहली बार काव्यशास्त्र में एक अभिनिवेश और आग्रह के साथ यह सिद्धांत दर्ज और मान्य हुआ कि सहृदयों की बात भी सुनी और समझी जाएगी, आचार्यगण कविता को जिस तरह समझ समझा रहे हैं, उतने में ही कविता समाप्त नहीं है।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में सिद्धांततः यह स्वीकार करवा लिया जाना कि कविता के सिद्धांतों की एक कसौटी सहृदय का अनुभव भी माना जाना चाहिए—'सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्'—लगभग डेढ़ हजार साल के अलंकार-शास्त्र के विकास के बाद उसमें जन्मी एक क्रांति ही थी।

इस आग्रह और अभिनिवेश के साथ सहृदय की बात का दर्ज होना इसलिए भी संभव हुआ कि सचमुच में आनन्दवर्धन के समय सहृदयों का एक ऐसा वर्ग था। ये सहृदय सिद्धांतों को लेकर तो बहस करते थे, पर कविता की सराहना में एक मत हो जाते थे। वे अच्छी कविताओं को सुन सुन कर सराहने की काबिलियत उन्होंने अर्जित की थी। इसलिए आगे चल कर सहृदय का जो एक मानक लक्षण अभिनवगुप्त आदि ने स्वीकार किया, वह यह बना—'येषां काव्यानुशीलनवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता' जो लोग काव्यों के अनुशीलन के कारण मन के दर्पण के निर्मल होते चले जाने से कविता के वर्ण्य में तन्मय हो जाने की योग्यता पा चुके हैं।

आनन्दवर्धन या उनकी परम्परा में सहृदय शब्द जहाँ एक वचन में भी आता है, वहाँ वह एक पूरे समूह को ही सूचित करता है। सहृदय अकेला नहीं होता, सहृदयों का समूह एक हुआ करता है।

ऐसा नहीं था कि इस समूह के सहृदय कविता के सिद्धांतों को लेकर एक मत बना चुके थे। वे आनन्दवर्धन के अवतरण तक आपस में बहस करते आ रहे थे कि काव्य में ध्वनि का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है। आनन्दवर्धन इस विमति या वादविवाद के नैरंतर्य का संकेत भी अपने ग्रंथ के अंत में देते हैं—

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम्॥

यह आनन्दवर्धन अपने ही वर्ग के मनीषियों या सहृदयों के लिए कह रहे हैं।

अलंकारशास्त्र के कुछ आचार्यों ने अपने ग्रंथ कवियों के दिशा निर्देश के लिये लिखे थे। कुछ ने काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को व्यवस्थापित करने के लिए ग्रंथ रचना की थी। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रंथ की रचना का प्रयोजन पहली ही कारिका में स्पष्ट कर दिया है—तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत् स्वरूपम्—ध्वनि को लेकर इतना वाद विवाद फैला हुआ है, इसलिए सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिए हम उसका स्वरूप बता रहे हैं।

सहृदयों की मंडली में जो चर्चाएँ होती थीं, उनमें कविता को लेकर कई तरह के प्रश्न उठाए जाते रहे होंगे। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में जिस तरह सहृदयों को केन्द्र में रख कर बार-बार कुछ खास तरह के प्रश्नों पर मंतव्य दिए हैं, उससे लगता है कि इन मंडलियों में इस तरह के प्रश्नों की विस्तृत चर्चाएँ होती थीं—

—कोई कविता महान् कविता कैसे बनती है?

कुछ कविताएँ सुनते ही तत्काल प्रभाव उत्पन्न करती हैं, पर उनमें शास्त्र की दृष्टि ने कोई गुण दिखाई पड़ता है, न अलंकार, न रीति। ऐसी कविताएँ लंबे समय तक समाज में लोकप्रिय भी बनी रहती हैं। उनकी लोकप्रियता का आधार क्या है?

जो कविताएँ सुनते ही तात्कालिक प्रभाव उत्पन्न करती है, पर जिनका स्थायी संस्कार चित्त पर नहीं बनता, न लोक में वे स्थान पातीं है—ऐसी कविताओं में और कालजयी कविताओं में क्या अंतर है?

—क्या आकार में बड़े होने से कविता महान् हो जाती है, क्या आकार में बहुत छोटी कविता भी महान् कविता बन सकती है?

इन प्रश्नों पर विचार करते-करते सहृदयों की मंडली में जो धारणाएँ उभरी, उनको आनन्दवर्धन ने अपने ग्रंथ में प्रस्तुत किया और उनका यह प्रस्तुतीकरण उनके पहले की लगभग दो हजार साल की काव्य-कला-चिंतन की परम्परा को देखते हुए अब एकदम क्रांतिकारी लगता है, क्योंकि उसके द्वारा अनेक प्रचलित मान्यताएँ ध्वस्त हुईं और अनेक नई समझ ने जन्म लिया। शांत रस और करुण रस किसी काव्य में प्रमुख हो सकते हैं—यह मान्यता इस सब विवाद और शास्त्रार्थ के द्वारा स्थापित हो सकी। रामायण में करुण रस और महाभारत में शांत रस की प्रधानता तथा इन्हीं रसों में इन काव्यों का पर्यवसान माना गया। कविता में और काव्यशास्त्र में भी शांतरस की प्रतिष्ठा का कारण अंततः आनन्दवर्धन का निर्णयात्मक मंतव्य बना। मुक्तक या एक पद्य में निबद्ध समग्र रचना भी प्रबंध या बड़े काव्य के समान प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, इस तथ्य को पहली बार स्वीकार किया गया।

सहृदयों की मंडली में किसी कविता को लेकर यह भी चर्चा विशेष रूप से होती होगी कि उसमें कहाँ औचित्य है और कहाँ कवि से चूक हुई है। ये चर्चाएँ ध्वन्यालोक के एक बड़े भाग में आनन्दवर्धन ने समाविष्ट की है। आगे चलकर उनकी परम्परा में क्षेमेंद्र ने इसके आधार पर औचित्य सिद्धांत ही स्थापित किया।

कविता की पहचान के लिए की गई चर्चाओं से बनी पुस्तक होने के कारण यह स्वाभाविक था कि ध्वन्यालोक के द्वारा पहली बार संस्कृत और

प्राकृत के अनेक कवियों और कविताओं का आकलन किया गया। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और अमरुक जैसे यशस्वी और कालजयी कवियों को पहली बार काव्यशास्त्र के किसी ग्रंथ में अपने सिद्धांतों के आधार पर जाँचते हुए उनकी कवि के रूप में महत्ता और उपलब्धि की मीमांसा की गई। धर्मकीर्ति और भल्लट जैसे अल्पज्ञात और लगभग समकालीन कवियों की पहचान भी इस विवेचन के द्वारा हुई। कालिदास तो आनन्दवर्धन के समय तक महान् कवि के रूप में स्थापित थे। पर अमरुक तो लगभग उनके समकालीन रहे होंगे। इसी तरह धर्मकीर्ति (६३५-६५० ई. के आसपास) भी समय की दृष्टि से आनन्दवर्धन से बहुत दूर नहीं है। भल्लट तो आनन्दवर्धन के कनिष्ठ समकालीन हैं। सहृदय अपनी भावयित्री प्रतिभा से किसी भी रचना की पुनःसृष्टि करता है, इस पुनःसृष्टि में वह कारयित्री प्रतिभा की प्रक्रिया को पकड़ लेता है। इस दृष्टि से आनन्दवर्धन का प्रस्थान केवल सहृदय-केन्द्रित प्रस्थान नहीं, कवि-सहृदय-केन्द्रित प्रस्थान है। कवि के संसार की स्वायत्तता और कवि के स्वातंत्र्य की बात भी इसी प्रस्थान में उठाई गई।

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति कविः काव्ये यथेच्छं स्वतन्त्रतया॥

आनन्दवर्धन जिस सहृदयों की मंडली को इंगित कर रहे हैं, उसमें कवि सम्मिलित हैं, अन्यथा सहृदय किसकी कविता सुन सुनकर अपने मनोमुकुर विशद बना रहे होंगे? पुरानी स्थापित कविताएँ भी इस मंडली में बार-बार पढ़ी-सुनी जाती होंगी और किस्म-किस्म की नई लिखी जा रही कविताओं को सुन कर समझने का आग्रह वहाँ रहा ही होगा। इस मंडली में कुछ सहृदय या कवि ऐसे हैं, जो पुरानी कविताओं को देख सुन समझ कर उनसे प्रेरित होकर नई कविता बना रहे हैं। ऐसे मंडलियों में शिरकत करते हुए आनन्दवर्धन ने कविता की परख के लिए दो परिभाषाएँ ईजाद कीं—चित्रकाव्य और काव्यानुकार। मेरी जानकारी के अनुसार काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन ने ही पहली बार इन दोनों अवधारणाओं को प्रस्तुत किया।

सहृदयों की मंडली में जब पुरानी कविताओं के बरक्स नई रचनाएँ सुनाने का प्रसंग आता, तो या तो पुरानी प्रतिष्ठित रचनाओं से अलग हटकर रची कविता नए कवि सुनाते होंगे या फिर पुरानी प्रतिष्ठित कृतियों का अनुकार करके

कुछ रच कर लाते होंगे। पुरानी परिचित कविता से भिन्न नई रचना में चित्रता या विचित्रता आ जाती है। इसलिए आनन्दवर्धन ने उसे चित्रकाव्य कहा। सुनाने के लिए तत्काल लिखी गई कविता में आंतरिक संरचना की गहराई नहीं आ पाती, ऊपर-ऊपर के शब्द और अर्थ को आकर्षक बनाने पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। इसलिए चित्रकाव्य का लक्षण ही यह माना गया कि उसमें शब्द और उनके सीधे-सीधे अर्थों की चित्रता या सौंदर्य होता है। आनन्दवर्धन ने कहा कि यह कविता का मुख्य धारा नहीं है, यह मुख्य धारा का अनुषंग है। इसीलिए यह काव्यानुकार है—

न हि तन्मुख्यं काव्यं काव्यानुकारो ह्यसौ।

चित्रकाव्य या काव्यानुकार रचने वाले कवि कविता की पाठशाला में ताजा भर्ती हुए शिष्य थे। आनन्दवर्धन ने इन्हें प्राथमिक और आभ्यासिक कहा है।

आनन्दवर्धन कहते हैं—आजकल के जो प्राथमिक या अभ्यासिक कवि हैं, उनके काव्य को परिभाषित किया जाए, तो चित्रकाव्य की संज्ञा बनती है, पर वस्तुस्थिति यह है कि अपनी परिणति पर पहुँचकर कविता चित्रकाव्य नहीं, ध्वनिकाव्य ही होती है।

तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकाभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः प्राप्तः। प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितम्।

इसके साथ ही सहृदय-गोष्ठियों में यह भी प्रश्न उठा होगा कि फिर जिसे मुख्य काव्य कहा जा रहा है, उससे इस चित्रकाव्य या काव्यानुकार में फर्क क्या है? इसके उत्तर में एक बात जो कही जा सकती थी वह यह कि मुख्य काव्य अपनी एक गूँज छोड़ता है। चित्रकाव्य या काव्यानुकार में वैसी गूँज नहीं होती। ध्वनि सिद्धांत की अवधारणा का स्रोत शायद यही है। कविता में कोई आवाज है। अच्छी आवाज वही है, जिसकी गूँजे रह रह कर उठती हैं। ध्वनि के भेदों में ध्वनि और प्रतिध्वनि के रूपक को स्वीकार करके अभिधामूल ध्वनि को अनुरणनरूप व्यंग्य इसीलिए कहा गया।

अच्छा संगीत भी अपनी गूँज छोड़ता है। वह गूँज भी पलट कर बार-बार आ सकती है। जितना ही अच्छा संगीत होगा, उतनी ही अधिक पुनरावर्त्यता उसकी गूँज की होगी।

मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त बड़ा रसिक है। वह आधी रात को उज्जयिनी नगर की सड़क पर जा रहा है और कुछ देर पहले शास्त्रीय संगीत की एक सभा में अपने मित्र गायक रेभिल का जो गायन उसने सुना था, उसकी गूँज लौट लौट कर उसके भीतर आ रही है। नगर में रात को निकलना असुरक्षित है,

एक ओर चोर लुटेरे उत्पात मचाए हुए हैं, दूसरी ओर क्रांति की तैयारियाँ चल रही हैं। चारुदत्त स्वयं अप्रत्यक्ष रूप से बागियों के साथ है, पर इस समय वह सड़क पर सारे शहर में हो रही ध्वनियों की बजाय उस प्रतिध्वनि को सुनता चल रहा है, जो रेभिल के गायन से उठी है।

यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव॥

(*मृच्छकटिक,* ३/५)

कविता में इसी गूँज की पुनरावर्त्यता और दूरगामिता को आनन्दवर्धन और उनके सहृदय-वर्ग ने अपना पैमाना बनाया और काव्यविश्व की नाप-जोख की। यह कहा गया कि इस विविधता से भरे काव्यविश्व में असंख्य कवि हुए हैं, पर उसमें कालिदास जैसे दो, तीन या अधिक-से-अधिक पाँच ही महाकवि कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनकी काव्य में यह गूँज इस तरह की है। रचना का आकार मानक नहीं है, बहुत छोटी-सी रचना में गूँज ज्यादा हो सकती है, आकार में बड़ी रचना में कम। इस दृष्टि से अमरुक का एक तरह से नवाविष्कार आनन्दवर्धन और उनके वर्ग ने किया। अमरुक कवि का एक-एक पद्य एक प्रबंध बनने की क्षमता रखता है।

इस तरह आठवीं नवीं शताब्दी में काव्यशास्त्र में ध्वनि के रूप में एक पैमाना इस तरह तैयार किया गया कि उससे सारी काव्य परम्परा को समझा जा सके और समकालीन कविता को भी परखा जा सके। इस परख की प्रक्रिया में एक तरह की रणनीति भी बनाई गई। आनन्दवर्धन कालिदास को तो आड़े हाथों ले रहे हैं और अपने समकालीन कवियों में भल्लट जैसे लगभग अज्ञात कुलशील कनिष्ठ की पीठ थपथपा रहे हैं।

आनन्दवर्धन और भवभूति के समय में अधिक अंतर नहीं है। भवभूति रामायण की कथा के उत्तरार्ध पर जो नाटक लिख रहे हैं, उसमें करुण रस सर्वातिशायी माना गया है। नाटककार भवभूति स्वयं सारे रसों में करुण को ही एकमात्र रस मानते लगते हैं। सुखांत की कथित भारतीय अवधारणा एक तरफ रह जाती है और आनन्दवर्धन और उनका सहृदय-वर्ग एक ऐसी रचना में करुण रस की सर्वातिशायिता को स्थापित करता है, जो उनके पहले की डेढ़ दो सहस्राब्दियों से जन-जन के संस्कारों में रची बसी रही है। रामायण में करुण रस की प्रधानता ही नहीं, उसका अवसान भी करुण रस में यहाँ माना गया। करुण रस का स्थायी भाव शोक है। यह साहित्य और जीवन में शोक के अनुवेध की स्वीकृति भी है। इससे रस की सारी रसमयता पर प्रश्न नहीं लग जाता? फिर इस प्रश्न पर आचार्य परम्परा विचार करने लग जाती है कि करुण रस का भी रस की तरह आस्वाद क्यों कर और कैसे होता है। पर आनन्दवर्धन इससे भी आगे जाकर

रसचिंतन की परम्परा को झकझोरते हैं। वे रस के 'रसहीन अवसान' की बात कहते हैं। क्या ऐसा भी रस हो सकता है, जो अंततः रसहीन हो या जो सारे रसों को छोड़ देने पर जन्म ले?

आनन्दवर्धन के समय तक शांत रस बहस का एक जबरजस्त मुद्दा था। सवाल यह था कि शांत भी क्या कोई रस हो सकता है? कालिदास ने भरतमुनि का चर्चा करते हुए उन्हें आठ रसों वाले नाटक का प्रयोक्ता बताया है। इन आठ रसों में शांत शामिल नहीं है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त को छोड़कर काव्य-शास्त्र की मुख्य धारा के आचार्यों में शांत रस को कोई स्वीकार नहीं करता—केवल उद्‌भट इसके अपवाद हैं। नाट्यशास्त्र के धनंजयकृत सुप्रसिद्ध ग्रंथ दशरूपक में शांतरस को स्वीकार नहीं किया गया, जबकि धनंजय आनन्दवर्धन के कुछ बाद हुए। शांत रस को स्वीकार करने में दिक्कत यही थी कि शांत रस का स्थाई भाव निर्वेद या वैराग्य है, यदि निर्वेद या वैराग्य रहेगा, तो कविता में भी प्रवृत्ति क्यों कर होगी, क्योंकि कविता भी तो संसार के विषयों को ही प्रस्तुत करती है और उन्हीं विषयों—विभाव, अनुभावों, संचारी भावों—के संयोग के रस का आस्वाद कराती है!

दरअसल शांत और रस ये दो परस्पर विरोधी संज्ञाएँ हो जाती हैं। यदि शांत या शम का उदय हो गया, तो विषयवैमुख्य के कारण प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति का जन्म हो जाएगा और यह निवृत्ति कविता और कला से भी विमुख कर देगी। आनन्दवर्धन काव्यशास्त्री के इस द्वन्द्व को समझ रहे थे। पर उन्होंने शांत की प्रतिष्ठा के अपने सबसे बड़े अस्त्र का उपयोग किया। सहृदयों का अनुभव यदि गवाही देता है कि शांत एक रस है, जो उसे मान लेना चाहिए। यह अनुभव है कि तृष्णा की पुष्टि से जो सुख मिलता है उससे मुकाबले कुछ लोग तृष्णा के क्षय से अधिक सच्चा सुख पाते हैं (३/२६ पर वृत्ति)।

आनन्दवर्धन ने कहा है—शास्त्ररूप और काव्य की छाया से युक्त महाभारत में वृष्णियों और यादवों के रसहीन अवसान में वैरस्य या निर्वेद के भाव को उत्पन्न कर देने वाली समाप्ति है और महामुनि व्यास ने वैराग्य को इसे मुख्य अभिप्राय के रूप में प्रदर्शित किया है तथा मोक्ष रूप पुरुषार्थ के साथ शांत रस को प्रधान विवक्षा का विषय बनाया है। मोह में पड़े हुए संसार के उद्धार की इच्छा करते हुए अत्यंत निर्मल ज्ञान को प्रकाशित करते हुए उन्होंने यह भी कहा है—

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

(इस विश्वप्रपञ्च के विपर्यय का बोध जैसे-जैसे होता है वैसे-वैसे इससे वैराग्य होता जाता है।) आनन्दवर्धन के अनुसार शांत रस यहाँ अन्य रसों की

अपेक्षा अंगी है और मोक्ष रूप पुरुषार्थ भी इसी प्रकार अन्य पुरुषार्थों की अपेक्षा प्रधान है। आनन्दवर्धन कहते हैं कि यदि यह शंका की जाए कि महाभारत में इस ग्रंथ के सारे वर्ण्य विषय आरंभ में अनुक्रमणी में ही बता दिए गए हैं, वहाँ तो यह कहीं नहीं कहा गया कि इस ग्रंथ में मोक्ष पुरुषार्थ तथा शांत रस का प्रधान रूप से निरूपण है, वहाँ तो सारे पुरुषार्थों और सारे रसों का निरूपण इस ग्रंथ में होने की बात कही गई है, तो इसके समाधान में वे कहते हैं—महाभारत में प्रधान पुरुषार्थ और प्रधान रस का संकेत शब्दों से या अभिधा में न करके व्यंग्य में किया गया है। मुनि व्यास कहते हैं—भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः। इससे स्पष्ट है कि पांडवों का जो चरित्र यहाँ बताया गया है, वह अविद्या रूप है, परमार्थ सत्य रूप तो भगवान् वासुदेव का चरित्र ही है। महाभारत से जो दूरगामी और चिरकालिक गूँज जन्म लेती है, वह शांत में हमें प्रतिष्ठित करती है।

गूँज तभी जन्म लेगी, जब ध्वनि हो चुकी हो। शब्द वे ही रहते हैं, स्थान, देश, काल और सुनने वालों के हिसाब से उनकी गूँज बदल जाती है। किसी को एक काव्य में गूँज अलग तरह की सुनाई देती है। यह तो संभव है कि शब्द और अर्थ नाद, आवाज या शोर कम या बहुत कम पैदा करें, पर उनकी गूँज लंबी और दूरगामी हो। यह भी संभव है कि कई बार अलंकारों की झंकार जो आवाज पैदा करती है, उसमें वह गूँज न हो। ऐसे में अलंकार भार बन जाते हैं।

एक अच्छी कविता भी हर सहृदय के मन में एक सी गूँज नहीं छोड़ती। इसलिए ध्वनिवाद ने व्यंजना की प्रक्रिया और उसकी सामग्री की मीमांसा करते हुए वक्ता, बोद्धा, वाक्य, वाच्य, अन्य का साहचर्य, प्रसंग, देश, काल आदि कारणों पर विचार किया, जिनसे यह गूँज बदल जाती है।

आनन्दवर्धन ने आवाज को अनसुनी करके उसकी गूँज सुनते रहने की सलाह नहीं दी थी। पर उनके अनुयायियों को कहीं कविता में बिना आवाज के भी उसकी गूँज सुनाई देने लगी। आनन्दवर्धन कविता में इस आधार पर भी उत्कृष्टता-निकष्टता का निर्णय नहीं करते कि काव्य में गूँज अधिक है या गूँज को जन्म देने वाली ध्वनि का प्रभाव अधिक है। एक ऐसा भी काव्य हो सकता है जिसमें गूँज के सहारे हम उस मुख्य ध्वनि को पकड़ना या समझना चाहते हैं, जिससे वह गूँज उठी थी। ऐसे काव्य को आनन्दवर्धन ने गुणीभूतव्यंग्य कहा है। गुणीभूतव्यंग्य भी अंततः अपने प्रभाव की समग्रता में उस काव्य से कम नहीं होती, जिसे ध्वनिकाव्य कहा गया।

आवाज से उसकी गूँज पकड़ना और गूँज से फिर ध्वनि को सुनना—ये दोनों ही प्रक्रियाएँ काव्यास्वाद में संभव हैं। केवल गूँज में मगन रहने वालों को आनन्दवर्धन ने चेतावनी दी थी—न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्—(सभी जगह ध्वनि से ही अनुराग करते नहीं रह जाना चाहिए।)

एक और बात यह भी हो सकती थी कि जिस कविता का आस्वाद किया जा रहा है, उसके शब्दों से उठी गूँजों के अलावा आस-पास की अवांतर गूँजें उसमें भावक या पाठक को सुनाई पड़ने लगें और इससे आगे जाकर ये अनुषंगी गूँजें ही उसके मुख्य ध्वनित अर्थ लिये जाएँ। आनन्दवर्धन वाच्य और व्यंग्य अर्थात् कविता की आवाज और उसकी गूँज को दोनों को समझने पर बहुत जोर देते हैं। धर्मकीर्ति का यह श्लोक उन्होंने इस संदर्भ में उद्धृत किया है—

लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः
स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः।
एषाऽपि स्वयंमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥

(३/४० की वृत्ति में उद्धृत, पृ. ४८७)

(लावण्य की कितनी सामग्री खर्च हो गई—इस बात की परवाह नहीं की
बड़ा भारी क्लेश उठाया
स्वच्छन्द सुख से रहते लोगों के जी में लगा दी चिंता की आग
(यह सब हुआ)
और इधर यह बिचारी भी
अपनी बराबरी का रमण न मिलने से मारी ही तो गई
आखिर मन में क्या विचार रहा होगा विधाता के
कि रच दिया उन्होंने
इस सुंदरी का तन?)

यदि कविता के शब्दों और उनसे निकले आशय की सीधे-सीधे ले लिया जाए, तो यहाँ ब्याजस्तुति अलंकार प्रतीत होता है। अर्थात् कविता की गूँज नायिका का प्रशंसा में पर्यवसित हो जाती है। वह इतनी अनिंद्य सुंदरी है कि विधाता ने उसे बनाने में जी खोलकर सौंदर्यनिर्माण की सामग्री लगा दी है, रचते समय बड़ा क्लेश उठाया है और उसका सौंदर्य ही उसके घर परिवार के लोगों की साँसत बन गया है। उसके अनुरूप कोई वर मिल नहीं रहा है। इस तरह नायिका की निंदा उसकी प्रशंसा को ध्वनित करती है और ब्याजस्तुति अलंकार हो जाता है। आनन्दवर्धन कहते हैं कि ऐसा नहीं है। इस श्लोक के शब्दों और उनके सीधे-सीधे अर्थ में कवि का आशय नहीं है, क्योंकि यह किसी रागी की उक्ति नहीं हो सकती है। कोई भी रागी व्यक्ति यह नहीं कह सकता है कि यह बिचारी भी अपनी बराबरी का रमण न मिलने से मारी ही गई! यदि रागी है तो वह अपने आपको तो उसका रमण मानेगा ही। यह किसी विरागी की उक्ति भी नहीं हो सकती। विरागी व्यक्ति उस सुंदरी के लिए इतनी चिंता प्रकट नहीं कर

सकता। आनन्दवर्धन ने जो इसकी व्याख्या की है उसके अनुसार यह श्लोक किसी सुंदरी के विषय में नहीं है। शब्द और उनके सीधे-सीधे अर्थ जिस सुंदरी की बात कर रहे हैं, वह भौतिक रूप में कहीं है नहीं। पूरे श्लोक की गूँज यह है संसार में गुणों का समादर नहीं हो रहा। अच्छी-से-अच्छी रचना को सराहने वाला कोई नहीं है। रचना भी ऐसी है कि उसमें रचनाकार ने बहुत श्रम करके सामग्री का विन्यास किया है, पर वह लोगों में चिंता की आग को भड़काती है। ऐसे में उसमें रमने वाला कौन मिलेगा? इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है, ब्याजस्तुति नहीं।

यह शंका हो सकती है कि इस तरह की गूँज यहाँ आनन्दवर्धन ने ही सुनी है और कवि के शब्दों से वह नहीं उपजी। ऐसे में अपनी व्याख्या की प्रामाणिकता के लिए आनन्दवर्धन उक्त श्लोक के रचयिता के कवि स्वभाव और उसकी रचना के संदर्भ को समझने की बात करते हैं। यह श्लोक किसी प्रबंध (महाकाव्य, नाटक आदि) का नहीं है, यह स्फुट मुक्तक है। अतः यह संभावना नहीं बनती कि इसमें कोई पात्र किसी स्त्री या नायिका के विषय में कह रहा है। दूसरे यह श्लोक धर्मकीर्ति का है। आनन्दवर्धन ईमानदारी के साथ कहते हैं कि सहृदयों में यह प्रसिद्धि है कि यह धर्मकीर्ति का श्लोक है और यह उन्हीं का हो सकता है। क्योंकि धर्मकीर्ति अपनी कृतियों का समादर न होने से खिन्न थे और उन्होंने अन्य श्लोक में भी इस तरह की बात कही है, जिसके प्रमाण में आनन्दवर्धन ने धर्मकीर्ति का यह श्लोक प्रस्तुत किया है—

अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-
प्यदृष्टपरमार्थतत्त्वमधिकाभियोगैरपि।
मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम्॥

(थोड़ी मति वाली शक्ति लगाकर
धँस नहीं पाया इसके भीतर
और अधिक जतन करके भी कोई
थाह नहीं ले पाया इसके परम तत्त्व की
ऐसा है मेरा यह मत।
इस जग में
मानने वाला इसका कोई मिल नहीं पाया
सागर से भीतर सागर के जल सा
यह बुढ़ा जाएगा मेरे भीतर।)

इस तरह के भाव धर्मकीर्ति ने कुछ और श्लोकों में भी प्रकट किए हैं। आनन्दवर्धन ने उन सबके संदर्भ में ऊपर उदाहृत पद्य की व्याख्या की है। धर्मकीर्ति ने अपने एक सुभाषित में कहा कि मेरे न कोई आगे है न पीछे। फिर भी मैंने अपना स्फुट बहल वामपंथ पकड़ लिया है। एक और पद्य में उन्होंने यह कहा कि यह महान् कवि ने पत्थरों को सागर पर तिरवा दिया, दूसरे ने अर्जुन के बाणों से सेतु बनवा दिया, पर इनमें कोई अत्युक्ति नहीं देखता। हम शब्द और अर्थ को तौल-तौल कर रख रहे हैं, फिर भी हमें कोई पूछता नहीं! अपने जीवन काल में शायद धर्मकीर्ति को क्षोभ रहा कि उन्हें न कोई पढ़ रहा है, न आगे पढ़ेगा। धर्मकीर्ति की आत्मा को शायद यह तथ्य से राहत मिली हो कि पूरी आचार्य परम्परा में एक आचार्य है, जिसने उन्हें पढ़ा है। यह संस्कृत साहित्य के सात सबसे बड़े आश्चर्यों में एक यह कहा जा सकता है कि जिन आनन्दवर्धन ने कालिदास और अमरुक जैसे कवियों को या तो एक-एक वाक्य की सुचिंतित टीप में निपटा दिया या कालिदास की तो कड़ा रुख अपनाकर खबर तक ली; उन्होंने रामायण और महाभारत के बात सबसे विशद विस्तृत समीक्षा धर्मकीर्ति की कविता पर लिखी।

●

अध्याय-७

कुन्तक

वक्रोक्तिजीवित के प्रणेता आचार्य कुन्तक भी वामन, उद्‌भट, आनन्दवर्धन जैसे महनीय चिन्तकों की परम्परा में काश्मीर में ही हुए। उन्होंने अपने ग्रंथ में आचार्य आनन्दवर्धन तथा नाटककार भवभूति और राजशेखर का उल्लेख किया है। इस आधार पर कुन्तक का समय दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है। ग्यारहवीं शताब्दी में हुए आचार्य महिमभट्ट अपने एक प्रबल प्रतिपक्षी के रूप में उनका खंडन करते हैं।

आनन्दवर्धन की विचक्षणता और भामह, दण्डी, वामन और उद्‌भट की कविताव्याख्यासरणि का जो दुर्लभ मणिकांचनयोग कुन्तक ने अपने वक्रोक्ति सिद्धांत में कर दिखाया, वह अभूतपूर्व था। दोनों सरणियों को शैव दर्शन की शक्ति तथा परिस्पन्दन की अवधारणाओं को वक्रोक्ति की अपनी परिकल्पना में समाहित करके यह अपूर्वता लाने में वे सफल हुए। अपने ग्रंथ के आरंभ में ही शिवस्तुति में वे कहते हैं—

जगत्-त्रितय-वैचित्र्य-चित्रकर्म-विधायिनम्।
शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः॥

शिव भी जगत् रूपी चित्र के निर्माण करने वाले अलबेले कलाकार हैं, पर वे यह निर्मिति या रचना शक्ति के परिस्पन्द से करते हैं। शिव उपकरण मात्र बन जाते हैं, रचना परिस्पन्द में से होती जाती है। रचनाकार का प्रातिभ परिस्पन्द के लिए अपने आपको उपकरण बना देना ही कुन्तक के यहाँ वक्रता है। कवि का बाँकापन इसी में है, अन्य जन अपने को प्रातिभ परिस्पन्द का उपकरण नहीं बनाते। कवि बना लेता है। यहीं उसका लीक से हटना है, यही वक्रता विन्यास है। इसी में कविता की लोकोत्तरता है।

उन्होंने कविता को अपना प्रमाण स्वयं मानते हुए यह भी स्थापना दी कि कविता से जनित चमत्कार चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति से बढ़कर है।

भामह, दण्डी, वामन, उद्‌ट और कुन्तक ये पाँच आचार्य वास्तव में अलंकार प्रस्थान के परमाचार्य हैं। भामहादि की ही भाँति कुन्तक का प्रयोजन भी अलंकार का निरूपण और कविता में अलंकार की व्यापक परिणतियों का प्रदर्शन था। अपने ग्रंथ के आरम्भ में ही उन्होंने स्पष्ट कर दिया है इस ग्रंथ का प्रयोजन अलंकारनिरुपण है,

उपचार से ग्रंथ का नाम भी अलंकार माना जा सकता है। कुन्तक यह भी स्वीकार करते हैं कि अलंकार गुणों के लिए भी प्रयुक्त होता है (पृ. ३)।

अलंकार की व्यापक अवधारणा पर एकाग्रता के कारण कुन्तक के सौन्दर्य शास्त्र में तन्मयीभवन और भावावगाहन के स्थान पर कृति की समग्र संरचना का अवधान अधिक है। काव्य को वे रसनिष्यन्दसुन्दर भी कहते हैं और अविवेक-गदापह या अविवेक की बीमारी के दूर करने वाला भी बताते हैं।

अलंकारविषयक चिंतन को एक परिणति पर पहुँचाने का काम कुन्तक ने किया। अलंकार सिद्धांत कविता की संरचना या उसकी देह पर अपना विमर्श केन्द्रित करता है। इस संरचना के द्वारा वह कविता का समग्र तक पहुँचता है। अलंकार कविता का मर्म बन जाता है। वह कविता की बाहरी संरचना को पार कर भीतर की संरचना तक पहुँचता है। अत: एव दण्डी कहते हैं कि कुछ अलंकार सामान्य होते हैं, कुछ अलंकार ऐसे होते हैं, जो कविता के प्रस्थानों के विभाजन के आधार बनते हैं। वक्रोक्ति अपने आप में ऐसा अलंकार है, जो कविता का प्रस्थान निर्मित करता है। इस दृष्टि से कुंतक ने अपने ग्रंथ को वक्रोक्ति की अवधारणा पर केन्द्रित किया। उन्होंने वक्रोक्ति को अलंकरण कहा है (वजी. १/२३ की वृत्ति, पृ. ३९)। वामन की भाँति वक्रोक्ति की उनकी अवधारणा में काव्य का समग्र सौन्दर्य, सौन्दर्याधान की प्रक्रिया और उसके उपकरण—यह त्रिपुटी समाहित है।

कुन्तक ने भामह से दो अवधारणाएँ लीं—एक साहित्य की, दूसरी वक्रोक्ति की। दोनों का जो व्याख्यान उन्होंने किया, उसमें मूल सचमुच अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित हुआ। भामह की शब्द और अर्थ दोनों की चारुता को समान रूप से काव्य में अभीष्ट बताने वाली तीन कारिकाएँ उन्होंने उद्धृत की हैं, जिन पर पिछले अध्याय में चर्चा की गई है। (वजी. १/१५-१७)। फिर साहित्य के अभिप्राय का विवेचन करते हुए वे कहते हैं कि शब्द और अर्थ तो समस्त भाषिक व्यवहार में साथ-साथ ही रहते हैं, अत: शब्द और अर्थ का साहित्य या सहित होना काव्य है—ऐसा कहने में क्या अपूर्वता हुई? इसके उत्तर में कुन्तक कहते हैं कि शब्द और अर्थ का यह साथ तो हर भाषा में सदा रहता ही है, पर कविता में यह साथ कुछ विशिष्ट होता है। कविता में इस साथ का आशय यह है कि शब्द और अर्थ दोनों में कोई एक रत्ती भर में घट कर हुआ तो कविता नहीं बन पाएगी—'एवमवस्थापिते द्वयो: काव्यत्वे कदाचिदेकस्य मनाङ्मात्र-न्यूनतायां सत्यां काव्यव्यवहार: प्रवर्तेत्याह सहिताविति।'—अर्थात् 'सहितौ' यह विशेषण द्विवचन में है, अत: यह शब्द और अर्थ दोनों पर बराबरी से लागू हो सकता है, दोनों एक दूसरे के साथ गलबाहीं करते हैं, कविता में शब्द और अर्थ का यह साथ चलना मित्रता भी हो सकती है, परस्पर स्पर्धा भी। वेद के ऋषियों

ने वाणी में शब्द और अर्थ की मैत्री की जो बात की थी, उसकी कविता में परिणतियाँ कुन्तक यहाँ स्पष्ट कर सके। कविता में शब्द और अर्थ का साहित्य या साथ-साथ होना शास्त्र या लोकव्यवहार की तुलना में कुछ विशिष्ट हो जाता है। यह वैशिष्ट्य परस्पर-स्पर्धाधिरोह और परस्पर मैत्री के द्वारा आ जाता है। दो मित्र एक काम एक साथ मिलकर करते हैं। उनमें उस काम को अच्छे-से-अच्छे ढंग से करने की होड़ सी लग जाती हैं। वे पूरी तरह एक दूसरे के पूरक भी बन जाते हैं। कुन्तक दोनों ही बातें कहते हैं—

विशिष्टमेवेह साहित्यमभिप्रेतम्। कीदृशम्? वक्रताविचित्रगुणालङ्कारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः।

तथा—

समसर्वगुणौ सन्तौ सुहृदाविव सङ्गतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो तथा॥ (१।१८)

कविता में शब्द और अर्थ गलबाहीं करते हैं, एक दूसरे से होड़ लगाने लगते हैं, और एक दूसरे की शोभा भी बढ़ाने लगते हैं। शब्दार्थ के साहित्य में साहचर्य, अन्योन्याश्रय और परस्परस्पर्धाधिरोह की विविध प्रक्रियाओं को कुन्तक ने वक्रोक्ति के विवेचन में समझाया।

यही नहीं, यह साहित्य शब्द का अपने अर्थ से ही नहीं अपने साथ आने वाले शब्द से भी होता है। अर्थ का अपने वाचक शब्द से ही नहीं अपने सहवर्ती अर्थ से भी होता है। कविता के महावाक्य में प्रत्येक शब्द का अपने आगे पीछे आने वाले हर एक शब्द से गठबंधन होता है, प्रत्येक अर्थ का अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती अर्थ से साहित्य होता है। इस तरह कुन्तक ने साहित्य की जो सर्वथा नवीन व्याख्या कर डाली, उसमें तीन प्रक्रियाएँ उजागर हुईं—

एक—शब्द और अर्थ की अन्यून, अनतिरिक्त.मनोहारिणी अवस्थिति या दोनों का ऐसी संरचना में गुँथना जिसमें दोनों में कोई भी दूसरे से किंचित् भी घट कर या बढ़ कर न हो। अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी अवस्थिति सौन्दर्य के रचाव की ऐसी मनोहर स्थिति है जिसमें न शब्द अर्थ के आगे बौना हो, न अर्थ शब्द के सामने छोटा पड़े और न ही शब्द अर्थ के बढ़ कर या अर्थ शब्द से बढ़ कर कुछ अधिक झलकने लगे।

दो—शब्द और अर्थ तथा उनसे बनने वाली काव्यकला की हर कोटि का परस्परस्पर्धाधिरोह—एक दूसरे से होड़ बढ़ते हुए कविता के सौन्दर्य को एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर चमकाते हुए रचना को शिखर पर ले जाना।

तीन—शब्द और अर्थ का अपने-अपने सजातियों से साहित्य-शब्द का अन्य शब्दों से और अर्थ का अन्य अर्थों से ऐसा मेल, जो रचना को अद्वितीय

रूप से गुम्फित कर ले और कविता के सारे उपादान एक-दूसरे के सौन्दर्य को चमकाते चले जाएँ।

ये तीनों प्रक्रियाएँ वक्रोक्ति के द्वारा रची जाती हैं। वक्रोक्ति की बात भी भामह उठा चुके थे। पर जिस तरह कुन्तक ने भामह की साहित्य की अवधारणा को असाधारण रूप से व्यापक फलक पर व्याख्या देकर विशिष्ट बना दिया, उसी तरह भामह की वक्रोक्ति को भी उन्होंने विकसित किया। यह उन्होंने वक्रोक्ति को बन्ध, वैदग्ध्य, कविकर्मकौशल या काव्यरचनाप्रक्रिया और परिस्पन्द की अवधारणाओं से जोड़ कर किया।

बन्ध या संरचना वक्रकविव्यापार है। वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए कुन्तक कहते हैं वह प्रचलित पथ से हटना है, पर केवल हटना ही नहीं, उसमें अतिक्रमण या हटना विचित्रता और विदग्धता के साथ होता है।

वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा वैदग्ध्यं कविकर्मकौशलं तस्य भङ्गी विच्छित्तिः, तया भणितिः।

वैदग्ध्य कविकर्मकौशल है, उससे कविता में भंगिमा भी आती है और विच्छित्ति या शोभा भी। यह भंगिमा या विच्छित्ति एक विशिष्ट संरचना में अवस्थित होती है। ऐसी संघटना में सौन्दर्यानुभव की दशा में कविता के उपादानों को अलग-अलग करके देखना संभव नहीं रह जाता। कौन अलंकार है और कौन अलंकार्य यह पार्थक्य समाप्त हो जाता है। अलंकार्य स्वयं अपना अलंकरण बन जाता है। कविता निरस्तावयव समुदाय होती है—इसे टुकड़े करके नहीं जाना जा सकता। टुकड़े असत्यभूत हैं, उनसे मिलने से बना समुदाय सत्य है। दर्शन या योग की साधना में टुकड़े-टुकड़े करके और टुकड़ों को भी निरस्त करके मुक्ति पाई जा सकती है, यद्यपि टुकड़े वहाँ असत्य ही हैं। भर्तृहरि कहते हैं—असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते। पर कविता और कला का पथ अलग है। यहाँ सबको जुड़ा हुआ देख लेने पर मुक्ति होती है। व्यवहार में समझ के लिए कभी-कभी टुकड़े अलग करके समझाए जाते हैं, पर वे वास्तव में अपने समुदाय से अलग होते नहीं हैं। वास्तव में कविता में अलंकार और अलंकार्य को अलग तो किया ही नहीं जा सकता, केवल उसकी विवेचन करते हुए हम समझाने के लिए यहाँ यह अलंकार है और यह अलंकार्य ऐसी कल्पना करके पार्थक्य करते हैं।

अलङ्कृतिरलङ्कारमपोद्धृत्य विवेच्यते।
तदुपायकतया तद्वत् सालङ्कारस्य काव्यता॥ (*वक्रोक्तिजीवित*)

इस तरह कुन्तक ने काव्यभाषा और कविव्यापार पर अपना प्रस्थान केन्द्रित किया। पहली बार उन्होंने रूप और वस्तु के बीच तनाव को रेखांकित किया, जिसे वे परस्परस्पर्धाधिरोह कहते हैं। कुन्तक के पहले काव्यशास्त्र में यह अवधारणा

और यह शब्दावली नहीं है। रूप और वस्तु एक-दूसरे से होड़ लेते हुए कविता को एक शिखर तक ले जाते हैं। परस्परस्पर्धाधिरोह के द्वारा कुन्तक ने काव्य के उपादानों के अन्तःसंबंध को पुनः परिभाषित किया। वक्रता कविता के विभिन्न उपादानों में स्पर्धा उत्पन्न कर देती है, वे होड़ बढ़ बढ़ कर काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि में लग जाते हैं, जिसके कविता ऊँचाइयों के शिखरों को छूती जाती है—इसमें कविता के सारे उपादान पारस्परिकता में विन्यस्त होते हैं, शब्दार्थ का अन्योन्यशोभाजनन होता है, अन्यूनातिरिक्तत्व—मनोहारिणी अवस्थिति होती है। अलंकार्य स्वयं अपना अलंकरण बन जाता है। (पृ. १२६, १२९) इसमें कहीं परस्पर उपकार्य उपकारकभाव भी विभिन्न उपादानों में होता है। इसलिए अलंकारों में आभ्यन्तर और बाह्य का विभाजन भी वस्तुतः भ्रान्ति ही है। उदात्त को अलंकार कहा गया है, पर उदात्त जो अलंकार्य ही है (*वजी.* १६४)।

सालंकारस्यालङ्करणसहितस्य निरस्तावयवस्य सतः समुदायस्य काव्यता कविकर्मत्वम् (*वजी.* पृ. ६)।

कविता की समझ के लिए भारतीय काव्यशास्त्र के परिदृश्य में यह एक अलग तरह की पदावली है। यही नहीं, यह कविता की समझ को नया और हरा कर देती है। यह चमत्कार कुन्तक कदाचित् कालिदास से मर्म और सार समझ कर सके। अन्य आचार्यों की दृष्टि में कालिदास की कविता का जो मर्म अछूता रहा, उसे उन्होंने पकड़ा। कालिदास ने अपने शिव और पार्वती या अज और इन्दुमती को वर और वधू के वेश में उपस्थित करते हुए उनकी परस्पर-स्पृहणीयशोभा अथवा अन्योन्यशोभाजनन के कारण भूष्यभूषणभाव (एक दूसरे के लिए अलंकार बन जाने) की बात की है। उनकी नायिका उपमानों के लिए प्रत्युपमान हो जाती है—

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं रूपमयोजयिष्यत्।

रघुवंश ७/१४

अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः।

कुमारसंभव १/४२

आभरणस्याप्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः॥

विक्रमोर्वशीयम्, २/३

भामह ने कहा था कि अलंकारों के मूल में वक्रोक्ति रहती है इसके बिना कोई अलंकार हो नहीं सकता। वस्तुतः वक्रोक्ति अपने आप में का समग्र संरचना ही है। भरत ने इसी को काव्यबन्ध कहा था। भरतविषयक अध्याय में उनकी काव्यबन्ध की विवृति पर हम विचार कर चुके हैं। भरत के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने बन्ध को समझाते हुए कहा—बन्धो गुम्फो भणितिर्वक्रोक्तिरिति

पर्याया:—*अभिनवभारती,* भाग-१, पृ. ४०५) बन्ध, गुम्फ, भणिति या उक्ति तथा वक्रोक्ति ये पर्याय हैं। दूसरी ओर अभिनवगुप्त वक्रोक्ति का संबंध भरतमुनि के द्वारा प्रतिपादित लक्षण से भी जोड़ते हैं। भरतमुनि ने कहा था कि काव्यबन्ध छत्तीस लक्षणों से युक्त होते हैं। अर्थात् कविता की संरचना में छत्तीस तत्त्व आन्तरिक अवयव बनते हैं। ये लक्षण उपमा आदि अर्थालंकारों और अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की अपेक्षा कविता की संरचना के गहरे स्तरों में पिरोये होते हैं, अत: अलंकार वर्जित होकर भी वे कविता की संभावनाओं के द्वारा खोलते हैं। इसी दृष्टि से अभिनव कहते हैं—लक्षणं त्वलङ्कारशून्यमपि न निरर्थकम्। (वही) अभिनव ने वक्रोक्ति को लक्षण का पर्याय भी माना—

समस्तार्थालङ्कारवर्गस्य बीजभूताश्चमत्कारा: कथाशरीरवैचित्र्यदायिनो वक्रोक्तिरूपा लक्षणशब्देन व्यवह्रियन्ते। (*नाट्यशा.* १६/३० पर *अभिनवभारती*)

शब्द और अर्थ एक बन्ध में व्यवस्थित होकर कविता रचते हैं। बन्ध काव्य में वाक्य विन्यास है, जो वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) दोनों के सौभाग्य और लावण्य को पुष्ट करता है। यह वाक्यविन्यास कविव्यापार या सर्जना प्रक्रिया से आता है। सौभाग्य प्रतिभा के संरंभ का व्यापारित होने से रचना में आता है जो चित्त को चमत्कृत करने वाला गुण है और सन्निवेश या विन्यास का सौन्दर्य लावण्य है। इस प्रकार बन्ध के काव्यरचनाप्रक्रिया से जोड़कर कुन्तक ने उसमें सौभाग्य और लावण्य इन गुणों का परिपाक निरूपित किया।

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारकशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ (*व.जी.* १।७)
वाच्यवाचकसौभाग्यलावण्यपरिपोषक:।
व्यापारशाली वाक्यस्य विन्यासो बन्ध उच्यते॥ (*वही,* १।२२)

भरतमुनि ने बन्ध की जो बात उठाई, कुन्तक ने उसमें चमत्कार यह किया कि उन्होंने बन्ध को स्पन्द से जोड़ दिया। बन्ध कविता की सारी संरचना है, स्पन्द उसके लिए कवि की उमंग है। स्पन्द शैव दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। सारी सृष्टि स्पन्द है। शिव स्पन्द के द्वारा संसार हो जाते हैं। इस तरह स्पन्द स्वभाव है, वक्रता उसकी परिणति। इन दोनों के गुँथाव में कला की सारी सृष्टि समाई हुई है। इस दृष्टि से कुन्तक का सारा प्रस्थान स्वभाव का निरूपण भी है, जितना वक्रता का निरूपण। उन्हें वक्रोक्तिवादी भी कह सकते हैं, स्वभाववादी भी। वक्रता स्वभाव के परिस्पन्द से आती है। अत: एव परिस्पन्द या स्पन्द का कुन्तक ने वक्रतानिरूपण में अनेकत्र प्रयोग किया है।

अर्थ: सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दर:॥ —*वजी.,* १।९
सौकुमार्यपरिस्पन्दस्यन्दि यत्र विराजते॥ —*वजी.,* १।२८
उदारस्वपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्णनम्॥ —*वही,* ३/१

प्रतिभासात् तथा बोद्धुः स्वस्पन्दमहिमोचितम्। ३/३२
विवक्षितपरिस्पन्दमनोहारित्वसिद्धये॥ ३/३५

बन्धका अर्थ साँचे जैसा बँधाव न लिया जाए, इसलिए व्यापारशाली विशेषण कुन्तक ने यहाँ जोड़ा है। कवि प्रतिभा का परिस्पन्द ही बन्ध रचता है और रचनाव्यापार से बन्ध निरन्तर नया होता रहता है। इसलिए बन्ध में सौन्दर्य का समुल्लास होता है। इस बन्ध का सौन्दर्य कई मार्गों में अपने को प्रकट करता है। परिस्पन्द कई मार्गों में हो सकता है। इसलिए कुन्तक ने वक्रोक्ति को बन्ध से और बन्ध को मार्ग से तथा मार्ग को सौन्दर्य से जोड़कर देखा है। सुकुमार, विचित्र और मध्यम ये तीन मार्ग हैं। रीति शब्द का प्रयोग कुन्तक बहुत समझ कर ही नहीं करते। रीति से आशय पूर्वनिर्धारित साँचे का आशय ध्वनित होता है। रीतियों का नामकरण व निरूपण जिस तरह होता रहा, उसमें वे प्राय: पूर्वनिर्मित प्रतीत होती हैं। कुन्तक एवं उदाहरण देकर कहते हैं कि किसी प्रदेश में मामा के बेटे के साथ बहिन के ब्याहने की रीति हो सकती है, इस तरह कविता में रीति को देशधर्म नहीं बनाया जा सकता। मार्ग बनाना और चुनना पड़ता है। प्रतिभा का परिस्पन्द अपना पथ रचता है। कविस्वभाव या प्रतिभा यह चयन करती है। कुन्तक कहते हैं कि इस दृष्टि से मार्ग अनन्त हो सके हैं, पर कविस्वभाव या प्रतिभा को सामान्यत: त्रिविध मानकर तीन मार्गों की कल्पना की जा सकती है (*वजी.*, पृ. ४२)। इसलिए सुकुमार, विचित्र और मध्यम ये तीन मार्ग सुन्दर की अवधारणा को भी समाहित करते हैं। सुकुमार मार्ग का उनका निरूपण ध्यातव्य है—

अम्लानप्रतिभोद्भिन्ननवशब्दार्थसुन्दरः।
अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषणः॥
भावस्वभावप्राधान्यन्यक्कृताहार्यकौशलः।
रसादिपरमार्थज्ञमनःसंवादसुन्दरः॥
अविभावितसंस्थानरामणीयकरञ्जकः।
विधिवैदग्ध्यनिष्पन्ननिर्माणातिशयोपमः॥ (१/२५-२७)

माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य ये चार गुण इन मार्गों में रहते हैं। माधुर्य में असमस्त पदों की मनोहारिता रहती है, प्रसाद में बिना क्लेश के अभिप्राय को व्यंजित करने की क्षमता, लावण्य में वर्णविन्यासविच्छित्ति के साथ पदसंधानसम्पदा के द्वारा बन्ध सौन्दर्य उत्पन्न होता है। आभिजात्य में स्वभाव की मसृण या कोमल छाया होती है। सौभाग्यं प्रतिभासंरम्भफलभूतं चेतनचमत्कारित्वलक्षणम्, लावण्यं सन्निवेशसौन्दर्यम्। (वजी. पृ. ३९) (१/३०-३३) कुन्तक के आधुनिक व्याख्याकार के. कृष्णमूर्ति ने सौभाग्य को कविता के आन्तरिक सौन्दर्य और लावण्य को बाह्य सौन्दर्य से जोड़कर सटीक व्याख्या की है तथा आभिजात्य को अंग्रेजी में क्लासिज़्म कहा है। कुल मिलाकर प्रसाद, माधुर्य,

लावण्य और आभिजात्य इन चार गुणों के विवेचन में कुन्तक ने दण्डी के गुण निरूपण को बृहत्तर परिप्रेक्ष्य दिया है।

वक्रोक्ति के भेदों में कुन्तक ने काव्यसौन्दर्य के समस्त उपादान समाहित करने का संरम्भ किया है। ये भेद हैं—(१) वर्णविन्यासवक्रता, (२) पदपूर्वार्ध-वक्रता, (३) प्रत्ययवैचित्र्यवक्रता, (४) वाक्यवैचित्र्यक्रता, (५) प्रकरणवक्रता तथा (६) प्रबन्धवक्रता। वर्णविन्यासवक्रता में अनुप्रास अलंकार आ जाते हैं (एतदेव वर्णवन्यासवक्रत्वं चिरन्तनेष्वनुप्रास इति प्रसिद्धम्—*वजी.* पृ. २७)। पदपूर्वार्धवक्रता के नौ भेद हैं—इनमें लक्षणा के द्वारा काव्य में निर्मित सौन्दर्य समाहित हो जाता है। वाक्यवैचित्र्यवक्रता में सारे अर्थालंकार समाहित हो जाते हैं। पदपूर्वार्धवक्रता के अंतर्गत कुन्तक ने रूढिवैचित्र्यवक्रता, संज्ञावैचित्र्यवक्रता, पर्यायवैचित्र्यवक्रता, उपचारवैचित्र्यवक्रता, विशेषणवैचित्र्यवक्रता, संवृतिवैचित्र्य-वक्रता, वृत्तिवैचित्र्यवक्रता, लिंगवैचित्र्यवक्रता और क्रियावैचित्र्यवक्रता इन नौ प्रकारों का निरूपण किया है। इनमें से रूढिवैचित्र्यवक्रता तथा उपचारवैचित्र्य-वक्रता में लक्षणामूलध्वनि के सारे भेद समाहित हो जाते हैं तथा अन्य भेदों में आनन्दवर्धन आदि के द्वारा निरूपित पदप्रकाश्यध्वनि आ जाती है। प्रत्यय-वैचित्र्यवक्रता के तीन भेद हैं—संख्यावैचित्र्यवक्रता, कारकवैचित्र्यवक्रता तथा पुरुषवैचित्र्यवक्रता। सारे अर्थालंकार वाक्यवैचित्र्यवक्रता में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

वक्रोक्ति विचित्र अभिधा है। वह वाच्यवाचकभाव से ही जन्म लेती है, पर व्यंजना की सारी प्रक्रिया उसमें आ जाती है। वर्णविन्यासवक्रता में वर्णध्वनि, पदवक्रता में पदध्वनि पदपूर्वार्धवक्रता में अविवक्षितवाच्यध्वनि, रूढिवैचित्र्य-वक्रता में लक्षणामूल ध्वनि का अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि, उपचारवक्रता में लक्षणामूल ध्वनि का दूसरा भेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि, वाक्यवक्रता में रसादिध्वनि, विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के भेद विश्रान्त हो जाते हैं, तो प्रकरणवक्रता और प्रबंधवक्रता में प्रबंधध्वनि समाहित हो जाती है। कुन्तक व्यंजना पर आधारित रस, भाव आदि की ध्वनियों से रसवदलंकार को कमतर नहीं मानते। वे स्पष्ट कहते हैं कि जिस तरह रस काव्य में रसवत्ता का निष्पादन करता है और सहृदयों को आह्लादित करता है, उसी प्रकार उपमा आदि भी इन दोनों प्रकार्यों को सम्पादित करके रसवदलंकार बन जाते हैं (*वजी.* पृ. १६५)। रसवत् को उन्होंने सर्वालंकारजीवित भी कहा है (३/१५)।

वक्रोक्ति में जो परस्परस्पर्धाधिरोह होता है, वह शब्द और अर्थ के बीच ही नहीं, प्रकरणों या प्रबंधों के विभिन्न अंशों के बीच भी होता है। प्रकरण एक-दूसरे को अनुग्राह्यानुग्राहक भाव से अवस्थित हो जाते हैं। (*व.जी.* ४/५)

व्यंजना जिस तरह काव्यसंरचना का अतिक्रमण करती है, वक्रोक्ति नहीं। पर इसका आशय यह कदापि नहीं कि वक्रोक्ति कवि के आशय और कविता में

अन्तर्निहित अभिप्रायों के उन्मीलन में प्रवृत्त नहीं होता। वस्तुतः वक्रोक्ति काव्य का वह बन्ध है, जिसमें कविव्यापार और काव्य का अपना विशिष्ट विन्यास दोनों समाविष्ट हो जाते हैं। वक्रता कवि के द्वारा चुने गए मार्ग को द्योतित करती है, जिसमें वह सामान्य से हट कर कुछ विशिष्ट कहता है और कहने के लिए विशिष्ट पद्धति का वरण भी करता है। अतएव काव्यसर्जना प्रक्रिया का विवेचन भी कविता की संरचना के विश्लेषण के साथ कुन्तक जितनी गंभीरता के साथ करते हैं, वह काव्यशास्त्र की भारतीय परम्परा अन्यत्र कम मिलती है।

वक्रोक्ति का एक अन्य लक्षण जो कुन्तक के प्रस्थान में मिलता है वह है—वैदग्ध्यभङ्गीभणिति। इसमें वैदग्ध्य और भङ्गी दोनों पर बल है। केवल भङ्गी या उक्तिवैचित्र्य पर नहीं। इस भंगिमा में कविता के सभी उपादान एक-दूसरे को अंलकृत करते हैं, तब कौन अलंकार है, कौन अलंकार्य यह पार्थक्य नहीं रह जाता।

वक्रोक्ति और काव्यरचनाप्रक्रिया का अन्तःसंबंध कुन्तक ने मार्ग की अवधारणा के द्वारा स्पष्ट किया। कविप्रतिभा अपना रास्ता स्वयं निर्मित करती है। उसका कविता का पथ रचने की प्रक्रिया तीन मार्गों से घटित होती है—सुकुमार, विचित्र और मध्यम। कुन्तक ने रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया, वे कविव्यापार की दृष्टि से विचार करते हैं, कवि अपना पथ बनाता है। इसलिए वे मार्ग शब्द का प्रयोग करते हैं। वक्रोक्ति के अंतर्गत मार्ग और मार्ग के अंतर्गत गुणों का विवेचन करके उन्होंने वामन के विवेचन को भी अपने वक्रोक्ति विचार में अंगीकृत कर लिया है, पर जिस तरह रीति की अवधारणा बदल दी है इसी तरह गुणों की भी।

स्पष्ट ही पदावली की कोमलता से या कोमल पदार्थ के निरूपण से कविता में सौकुमार्य गुण नहीं आ जाता। कुन्तक ने राजशेखर के एक पद्य में सौकुमार्यक्षति दिखाई है। पद्य राम के वनवास के लिे जाते समय का है। पद्य इस प्रकार है—

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमुद्वी
सीता जवात् त्रिचतुराणि पदानि गत्वा।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्‌ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम्॥

अभी तो नगर के परिसर पर ही थे वे
कि शिरीष सी कोमल सीता ने
तेजी से धरे चरण तीन या चार
फिर पूछा राम से बार-बार
कि कितना और चलना है अभी?

और करा दिया राम के नयनों में
अश्रु का पहला अवतार।

यहाँ यों तो सौकुमार्य की पराकाष्ठा दिखती है, सीता का अयोध्या के बाहर आते-आते बार-बार पूछना कि अब कितना और चलना है और राम का उसके यों पूछने पर रो पड़ना। दोनों में सुकुमारता है, सीता के थक जाने और उसके भोलेपन में भी और राम के चित्त में सीता के प्रति चिन्ता और अनुराग में भी। पर कुन्तक ठीक ही कहते हैं कि यहाँ वास्तव में सौकुमार्य टूटता है, सीता का एक बार ही पूछ लेना बहुत था। बार-बार पूछना क्या? और फिर कई बार पूछने पर राम की आँखों में अश्रु का पहला अवतार! क्या पहली बार 'कितना और चलना है?' यह पूछने पर ही राम की आँखें भर आएँ, यह राम की गरिमा उदात्तता और सीता के प्रति उनके अनुराग के अधिक अनुरूप न होता?

राजशेखर के इस पद्य का आधार लेकर तुलसी ने छन्द लिखा है। उसकी अन्तिम पंक्ति (तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै) में तो अश्रु के प्रथम अवतरण की जगह अश्रुप्रवाह ही है। राजशेखर के राम इसके पहले कभी रोये न थे। सीता के सवाल से उनकी आँखें छलछला आईं। जयदेव के पद्य में सौकुमार्य टूटा, पर उदात्तता बनी रही है। तुलसी के छन्द में सौकुमार्य और उदात्तता दोनों की क्षति हुई है।

कुन्तक ने राजशेखर के पद्य को 'परमरमणीय' भी बताया है। उनके अनुसार बस सौकुमार्य या कविस्वभाव के परिस्पन्द की थोड़ी सी च्युति इसमें हो गई है। यह 'मनाङ्मात्रचलितावधानत्व' ही कुन्तक के मत में यहाँ कवि के लिए कदर्थता या किए कराए का गुड़ गोबर बन गई है। इसके लिए संशोधन भी कुन्तक ने लिखा है। असकृत् (बार-बार) के स्थान पर 'अवशम्' (बरबस) रख दिया जाए (*वक्रोक्तिजीवित,* १/९ की वृत्ति)।

वामन की रीतिवादी या संरचनावादी दृष्टि से देखने पर कविता की सुकुमारता या उदात्तता की यों पहचान की जा सकती है। ध्वनिवाद की दृष्टि से तो आलम्बन सीता और आश्रय राम—इन दोनों विभावों; चिन्ता, ग्लानि आदि संचारी भावों तथा श्रम, अश्रुपात आदि अनुभावों के संयोग से शोक की अभिव्यक्ति होकर करुण रस का आस्वाद दोनों कविताओं में हो जाता है। फिर वहाँ सहृदय तो बस सहृदय ही है। वह भी राम के अश्रुप्रवाह के साथ आँसू बहाने लगता है। इस तरह रसध्वनिपाद के द्वारा काव्य के सूक्ष्म प्रतीयमान तत्त्व को पकड़ने का जो उपक्रम किया गया, उसमें कविता के समूची सुकुमारता और उदात्तता की परख तो उसी में छूट गई, जिसे आनन्दवर्धन काव्य की आत्मा का यह भी एक पक्ष है, पर हमारे लिए अविचारणीय—यह कह कर छोड़ चुके थे।

राजशेखर ने सीता के प्रश्न पर राम की आँखों में अश्रु के प्रथम अवतार की बात कही है। इस अर्थ में समाधि भी है, उदात्तता भी है। सौकुमार्य का थोड़ा हनन उसमें हुआ है, यह मान लिया जाए, तो भी सौकुमार्य से शून्य वह नहीं है। तुलसी ने इस पूरे के पूरे पद्य की अनुकृति की है। पर समाधि गुण और सौकुमार्य दोनों गुण उनकी रचना में भी हैं।

पुर तें निकसी रघुवीर वधू धरि धीर दये मग में डग द्वै
झलकीं भाल कनीं जल की पुटि सूख गये मधुराधर द्वै।
फिर पूछति है चलनो अब केतक पर्नकुटी करिहौ कित वै

भाल पर जल कण झलक उठना और दोनों ओठों का सूख जाना और पर्णकुटी के रचने को लेकर जिज्ञासा में राजशेखर की शिरीषमृद्धी सीता का जो रूप निरूपित है, उसमें अन्यच्छायायोनि अर्थ है, और समाधि गुण के अनुरूप अर्थदृष्टि भी है।

वक्रोक्ति या बन्ध में गुण रहते हैं। व्यंजना के स्वीकार के बिना ही कुन्तक के वक्रोक्ति विवेचन में गुण, रीति, अलंकार आदि सभी प्रस्थान समाविष्ट हो जाते हैं। ध्वनिवाद का समग्र वैशिष्ट्य भी उसमें समाहित हो जाता है। अन्तर यही रहता है कि आनन्दवर्धन के प्रस्थान में अलंकारों को दोयम दर्जा मिला, वक्रोक्ति में नहीं। यद्यपि आनन्दवर्धन अलंकारतत्व की अत्यन्त व्यापक अवधारणा को अच्छी तरह समझते हैं, वे और उनके व्याख्याकार अभिनवगुप्त मानते हैं कि कविता में उसके विभिन्न उपादानों का लोकोत्तर रूप में अवस्थित होना अलंकारभाव है—'लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवासावलङ्कार-भावः।' (*ध्वन्यालोकलोचन*)। जिन अलंकारों में व्यंग्यार्थ का चमत्कार है उन समासोक्ति, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में गुणीभूतव्यंग्य मानकर आनन्दवर्धन ने उनके लिए ध्वनिप्रस्थान में जगह भी बनाई, पर कुल मिलाकर ध्वनिवाद अलंकार को समुचित स्थान नहीं दे सका, अलंकार जहाँ है, वहाँ सामान्यतया अवर काव्य या अधमकाव्य होता है—इस अपूर्ण सत्य को वहाँ ध्वनि की स्थापना के संरम्भ में विशेष प्रचारित किया गया। अधम काव्य की कुक्षि में निक्षिप्त होकर अलंकार ध्वनि के प्रकारों में परिगणित नहीं हो पाए। कुन्तक के वक्रता सिद्धांत में अलंकार भी वक्रोक्ति के प्रकारों में परिगणित जाते हैं। अलंकारों की प्रतीयमानता का निरूपण कुन्तक ने विस्तार से किया है। कोई अलंकार अभिधा में कहा जाने पर चमत्कार लाता है, कोई व्यंजना से प्रकट होकर अपना सौन्दर्य रचता है। अतएव ध्वनि की समस्त उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए कुन्तक आनन्दवर्धन के ध्वनिलक्षण तक को प्रतीयमान अलंकारों के निरूपण में उद्धृत करते हैं (पृ. २२२)।

वक्रोक्ति वस्तुतः ध्वनि के कहीं अधिक व्यापक फलक पर काव्य का प्रतिमान बनती है। वह कविता की समग्रता को समेटती है। अतः प्रबंधांशवक्रता या प्रकरणवक्रता में कुन्तक कहते हैं कि वक्रता का क्षेत्र निस्सीम है, कविव्यापार के परिस्पन्द भी संभावनाएँ अनन्त होती हैं।

यत्र निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी।
प्रवृत्तिर्व्यवहर्तॄणां स्वाशयोल्लेखशालिनी॥
अप्यामूलादनाशङ्क्यसमुत्थाने मनोरथे।
काप्युन्मीलति निःस्सीमा सा प्रबंधांशवक्रता।

व्याख्या में स्वयं कुन्तक ने हाँ निर्यन्त्रणोत्साहपरिस्पन्दोपशोभिनी का अर्थ खोला है—निरर्गलव्यवसायस्फुरितस्फारविच्छित्ति और स्वाशयोल्लेखशालिनी का आशय है—निरुपमनिजहृदयोल्लासितालङ्कृतिः (*वक्रोक्तिजीवित,* पृ. २४५) अर्थात् अलंकार कवि के अन्तस्तल के आन्तरिक उल्लास से स्फुरित होते हैं। यह उल्लास असीम होता है। इससे जो विच्छित्ति निर्मित होती है, वह भी निस्सीम होती है।

इस अबाध रचना प्रक्रिया के स्फार की विच्छित्ति में मनुष्य की ही संभावनाएँ अनन्त होकर खुलती हैं। कुन्तक इसका उदाहरण रघुवंश के पाँचवे सर्ग के कौत्स प्रकरण तथा अभिज्ञानजानका नाटक के सेतुबन्ध के प्रकरण से देते हैं। मनुष्य के होने की अगणित संभावनाएँ ही कविता या कला में रचना की अनन्त संभावनाएँ बनाती हैं। रघु अपनी सारी सम्पदा दान कर चुके हैं और कौत्स ऐसे में उनके पास चौदह करोड़ मुद्राएँ अपनी गुरुदक्षिणा में देने के लिए माँगने को आ पहुँचते हैं। रघु इससे मन में हार नहीं मानते। वे कहते हैं—द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम्—दो तीन दिन मेरे यहाँ रुकने का कष्ट झेल लीजिए, तब तक मैं आपके लिए अर्थराशि की व्यवस्था करता हूँ।

व्यंजना और ध्वनितत्व को कुन्तक ने नकारा नहीं है, आनन्दवर्धन के वे ऋणी हैं। आचार्य महिमभट्ट ने तो उन्हें ध्वनिवादी का ही सहोदर मानकर जिस तरह ध्वनि का खंडन किया है इसी तरह उनके वक्रोक्तिसिद्धांत का भी। ध्वनिवाद की उपपत्तियों को स्वीकार करके कुन्तक ने अपनी वक्रोक्ति की अवधारणा में उन्हें पल्लवित और विस्तारित किया है। वक्रोक्ति विचित्र अभिधा है, तो काव्य के समस्त उपादान और कोटियाँ उसके अलंकार हैं। व्यंजना भी उनमें से एक है। व्यंजना और ध्वनि उनकी दृष्टि में वाच्यविशेष का ही विस्तार है और इसकी परिणति भी वक्रता में ही होती है। प्रतीयमानता या व्यंजना वक्रोक्ति में चार चाँद लगा देती है, वह वक्रता का अलंकार बन जाती है, उससे वक्रोक्ति का वैचित्र्य सजीव हो उठता है, पर इस सारी सजीवता में अभिधा ही अतिशय से अन्वित होकर परिस्फुरित होती रहती है। कुन्तक अपने समर्थन के

लिए आनन्दवर्धन का ध्वनिलक्षण भी उद्धृत करते हैं (*वजी.* पृ. २९)। व्यंजना को वाच्यवाचकभाव का विस्तार बताते हुए वे कहते हैं—

ननु द्योतकव्यञ्जकावपि शब्दौ भवतः, तदसङ्ग्रहान्नातिव्याप्तिः यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वसामान्यादुपचारात्तावपि वाचकावेव। एवं द्योत्य-व्यङ्ग्ययोरप्यर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचाराद्वाच्यत्वमेव। (*वजी.* पृ. १४)

यह संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में एक चमत्कार ही है कि जिस आचार्य ने साहस के साथ व्यंग्य अर्थ को भी वाच्य का ही अंग कह दिया, उसका ध्वनिवादी आचार्य अभिनवगुप्त ने कहीं भी खंडन नहीं किया। विचित्र मार्ग के प्रतिपादन में कुन्तक कहते हैं—

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्।
स्वभावः सरसाकूतो भावानां यत्र बध्यते।
केनापि कमनीयेन वैचित्र्येणोपबृंहितः॥
विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते।
परिस्फुरति यस्याः सा काप्यतिशयाभिधा॥ (१/४०-४२)

अतः वक्रोक्ति ध्वनि की अपेक्षा उनके यहाँ काव्य का कहीं अधिक बड़ा फलक समेटती है।

इस विचित्रमार्ग में कविता एक संघर्ष भी है, तलवार की धार पर चलना है।

सोऽतिदुस्सञ्चरो येन विदग्धकवयो गताः।
खड्गधारापथेनैव सुभटानां मनोरथाः॥ (१/४३)

प्रायः यह माना जाता है कि कुन्तक का वक्रोक्ति प्रस्थान आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद का उच्छिष्ट मात्र है और इसीलिए परम्परा में वह ग्राह्य वहीं हुआ। दोनों ही बातें मिथ्या हैं। कुन्तक आनन्दवर्धन के ऋणी हैं इसमें संदेह नहीं। पर वे जो प्रस्थान रचते हैं, वह आनन्दवर्धन का पूरक है। उनके वक्रोक्तिविचार का परवर्ती टीका-कारों और काव्यविवेचकों ने काव्यविमर्श में उपयोग भी किया है। श्रीकण्ठचरित महाकाव्य के प्रणेता मंख तथा उनके टीकाकार जोनराज कुन्तक के कुछ समय बाद काश्मीर में ही हुए। मंख ने कुन्तक के सिद्धांत की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है।

कलङ्कशून्यापि रसप्रवाहमपि स्रवन्ती विवुधोपजीव्यम्।
वाणी किमेणाङ्ककलेव धत्ते टङ्कं विना वक्रिमविभ्रमेण॥

श्रीकण्ठचरित, २/११

(कलंक से शून्य होकर भी देवताओं या विद्वानों के लिए उपजीव्य रसप्रवाह को बहाती हुई भी वाणी भला क्या चन्द्रमा की कला की तरह बिना

वक्रता के विभ्रम से शोभा को धारण कर सकती है।) चन्द्रमा की कला में भी बाँकेपन के कारण ही सौन्दर्य आता है और कविता में भी। पर केवल बाँकापन भी क्या काम का, यदि काव्य के अन्य उपादान और गुणों का यथोचित विन्यास न हुआ हो? ऐसा बाँकापन तो कुत्ते की पूँछ के समान तुच्छ है—

अत्यर्थवक्रत्वमनर्थकं या शून्याऽपि सर्वान्यगुणैर्व्यनक्ति।
अस्पृश्यतादूषितया तया किं तुच्छश्वपुच्छछटयेव वाचा॥

श्रीकण्ठचरित, २/१४

इस वक्रता को साध पाना हर किसी के बस का नहीं है। इसीलिए कुन्तक भी कविप्रतिभा के संरम्भ, कविव्यापार और उसके परिस्पन्द पर जोर देते हैं। मंख कहते हैं कि अक्षम कवि का वक्रोक्ति के पथ पर चलना ऐसा ही है जैसे पंगु या लँगड़े का राजमार्ग पर चलना—पदे पदे पङ्गुरिवाप्नुयात् किमन्यद्विना सा स्खलितोपघातात्॥ (*श्रीकण्ठचरित,* २/१५) लड़खड़ाने वाले रचनाकारों के लिए वक्रोक्ति में स्थान नहीं।

टीकाकार जोनराज ने श्रीकण्ठचरित में वक्रोक्ति की परिणतियाँ प्रदर्शित की हैं। वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए वे ठीक ही कहते हैं कि प्रसिद्ध-प्रस्थानों हट कर कुछ विशिष्ट होने में वक्रिमा है—प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकत्वं वक्रिमा (*श्रीकण्ठचरित,* निर्णयसागर सं. पृ. १७) तथा दोषाभावरसवत्त्वाभ्यां वक्रोक्तिरेवाधिक चमत्करोतीत्यर्थः।

कुन्तक के ही समय में महाकवि रत्नाकर हुए। उन्होंने वक्रोक्तिपञ्चाशिका नाम से पचास श्लोकों का काव्य लिखा है। एक अर्थ में उनके पद्य वक्रोक्ति के उदाहरण भी कहे जा सकते हैं, पर रत्नाकर ने वक्रोक्ति का अर्थ ले लिया है—किसी के कथन को घुमाव देकर अन्य अर्थ में लेना। यह वक्रोक्ति का सीमित रूप है। बाद के ध्वनिवादियों ने भी वक्रोक्ति को इसी तरह सीमित रूप में ही देखा है। कुन्तक ने जिस वक्रोक्ति का निरूपण किया है, उसमें काव्य की असीम संभावनाएँ निहित हैं, वह मात्र विचलन, उक्ति का घुमाव और कथनभंगी भर न होकर काव्य की समग्रता है। उसमें कथ्य की गरिमा और उदात्तता भी अपेक्षित है। जहाँ उदात्तता या गरिमा की क्षति हो, वहाँ वक्रोक्ति भी टूटती है—यह कुन्तक के सौभाग्य और सौकुमार्य आदि गुणों के निरूपण में स्पष्ट है। इस तरह वक्रोक्ति की परिकल्पना लांगेनियस के उदात्त समकक्ष कही जा सकती है।

(वक्रोक्तिजीवित से सभी सन्दर्भ के. कृष्णमूर्ति के सम्पादन में धारवाड़ से प्रकाशित संस्करण से हैं।)

●

अध्याय-८

राजशेखर

भूगोलिक दृष्टि से भारत में ईसा की पहली सहस्राब्दी में कविता पर चिंतन के तीन केन्द्र विकसित हुए—काश्मीर, मध्यदेश में कन्नौज और धार और दक्षिण में कर्नाटक या कांची। काश्मीर के काव्यशास्त्र की परम्परा पर भरत, भामह, आनन्दवर्धन और कुन्तक पर केन्द्रित अध्यायों में चर्चा की गई है। दक्षिण में पनपे प्रस्थान के समर्थ प्रतिनिधि दण्डी हैं, तो भोज और राजशेखर जैसे आचार्य मध्यदेश की परम्परा से आते हैं।

राजशेखर संस्कृत साहित्य की परम्परा में एक चर्चित नाटककार, कवि तथा आचार्य हैं। वे यायावरवंशीय ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए। उनके पूर्वज मूलतः महाराष्ट्र के निवासी थे। इनमें से एक-अकालजलद का राजशेखर ने स्मरण किया है, जिन्होंने कवि तथा आचार्य दोनों के रूप में ख्याति पाई थी। राजशेखर के पिता दर्दुक किसी राजा के मंत्री थे। चाहमान या चौहान वंश की राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी के साथ राजशेखर का विवाह हुआ। अवन्तिसुन्दरी स्वयं भी साहित्य में अभिरुचि रखती थीं। राजशेखर की कर्पूरमंडरी का अभिनय उसकी प्रेरणा से हुआ था—ऐसा राजशेखर स्वयं सूचित करते हैं। यही नहीं, वे अपनी काव्यमीमांसा में कई स्थलों पर अवन्तिसुन्दरी का मत उद्धृत करते हैं, जिससे लगता है कि उनकी पत्नी विद्वद्गोष्ठियों में हिस्सा लेती रही होंगी और अपना मत निर्भीक होकर प्रकट करती रही होंगी।

राजशेखर ने रुद्रट के काव्यालङ्कार तथा आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक को उद्धृत किया है। अतः वे निश्चित रूप में आनन्दवर्धन और रुद्रट के पश्चात् हुए। वामन और उद्भट के सम्प्रदायों के भी इति वामनीयाः या इति औद्भटाः के साथ राजशेखर उल्लेख करते हैं। उद्भट और आनन्दवर्धन के साथ ही वाक्पतिराज का भी उन्होंने अपनी काव्यमीमांसा में स्मरण किया है। वाक्पतिराज और उद्भट दोनों राजा जयापीड (७७०-८१३ ई.) के समकालीन थे। आनन्दवर्धन की चर्चा पिछले अध्याय में की गई है। ९५९-६० ई. में विरचित यशस्तिलकचम्पूः में राजशेखर का उल्लेख आया है। धनपाल ने १००० ई. के आस-पास रची अपनी तिलकमंजरी में राजशेखर की प्रशस्ति की है। इस प्रकार दसवीं शती के उत्तरार्ध राजशेखर की कीर्ति साहित्य जगत् में दूर-दूर तक फैल चुकी थी। अतएव राजशेखर ९५० ई. के पूर्व अपने कृतित्व के शिखर पर थे।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उनकी एकमात्र कृति काव्यमीमांसा है, वह भी अपूर्ण है। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने अपने से मुश्किल से साठ-सत्तर वर्ष पहले हुए आचार्यों और कवियों को उद्धृत करते हैं, इससे उनके अध्ययन की तेजस्विता और व्यापकता का पता चलता है।

राजशेखर कन्नौज के दो राजाओं के द्वारा सम्मानित हुए। इनमें से महेन्द्रपाल ने ९०३ ई. तक शासन किया और उसके बेटे महीपाल ने ९१७ ई. तक। वे लंबी अवधि तक कन्नौज में रहे होंगे। उसके पश्चात् वे कुछ समय त्रिपुरी में भी रहे और उनकी नाटिका विद्धशालभंजिका का अभिनय त्रिपुरी के कलचुरी राजा युवराज प्रथम केयूरवर्ष की राजसभा में हुआ।

अपने बालरामायण नाटक में राजशेखर ने स्वयं को छह प्रबंधों का कर्ता बताया है। इनमें से चार तो नाट्यकृतियाँ हैं—बालरामायण तथा प्रचण्ड-पाण्डव—ये दो नाटक, विद्धशालभंजिका नाटिका तथा प्राकृत में विरचित कर्पूर-मंजरी सट्टक। पाँचवीं कृति काव्यमीमांसा है। छठी रचना कौन सी है—यह अनिर्णीत है।

राजशेखर के समय काव्यशास्त्र के सिद्धांतों में ध्वनि, गुण-रीति, वक्रोक्ति और अलंकार—इनका व्यवस्थापन हो चुका था।

राजशेखर पहले आचार्य हैं जिन्होंने अन्य विद्याओं के बरक्स साहित्य या कविता की अहमियत पर विचार किया। यदि चार विद्याएँ हैं, तो साहित्य पाँचवी विद्या है और यह पाँचवी विद्या भी चारों विद्याओं का सार है। यदि चतुर्दश विद्यास्थान हैं, तो पन्द्रहवाँ विद्यास्थान काव्य है। यह सकलविद्यास्थानैकायतन है—अर्थात् सारी विद्याएँ इसमें आकर संगमित होती है (*काव्यमीमांसा,* पृ. ८)।

इसके साथ ही राजशेखर काव्य (साहित्य) की समाज में व्यापक भूमिका को स्वीकार करते हैं। काव्य वह नहीं जो कुछ सहृदयों के बीच सराहा जाए और उन्हीं में चुक जाए। काव्य वह है जो ग्वाल बाल से लगाकर महिलाओं और बूढ़े तक की ज़बान पर चढ़े। यहाँ राजशेखर जानबूझकर बाल-स्त्री के साथ हीन जाति के लोगों को भी कविता के आस्वाद की पात्रता में समाविष्ट करते हैं। राजशेखर चाहते हैं कि कविता जन-जन तक फैले, घर-घर में गूँजे। कविता मन में कौतुक जगाए और बच्चे, स्त्रियों और निचले तबके के लोगों तक पहुँच जाए। किसी की कविता उसके घर तक ही सीमित रह जाती है, किसी की उसके मित्रों के घर तक पहुँच पाती है, कोई-कोई कवि ऐसा होता है कि जिसकी रचना नासमझ लोगों तक की जबान पर चढ़ जाती है और जैसे कौतुक में भर कर विश्व की सैर को निकल पड़ती है—

वचः स्वादु सतां लेह्यं लेशस्वाद्वपि कौतुकात्।
बालस्त्रीहीनजातीनां काव्यं याति मुखान्मुखम्॥

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य-
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत्।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्
कस्यापि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव॥

कविता सनातन है। वह तो सदैव से मनुष्य के साथ रही है। इसलिए राजशेखर काव्य का जन्म मिथक के द्वारा निरूपित करते हुए कहते हैं कि काव्य का उपदेश श्रीकंठ परमेष्ठी या ब्रह्मा ने सबसे पहले अपने स्वयम्भू शिष्यों को दिया। उससे काव्य के विभिन्न उपादानों पर विचार की परम्परा का प्रवर्तन हुआ। इसके पश्चात् राजशेखर ने काव्यपुरुष का स्वरूप निरूपित किया है। वाणी या सरस्वती ने साधना करके पुत्र के रूप में काव्यपुरुष को पाया। इस काव्यपुरुष का स्वरूप निहारते हुए सरस्वती ने उसका बखान इस प्रकार किया—

शब्दार्थौ ते शरीरम्। संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः, प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलङ्कुर्वन्ति।

ग्रीष्म में झुलसते शिशु काव्यपुरुष को देखकर मुनि उशना (शुक्राचार्य, जिन्हें कवियों में प्रथम कवि कहा गया है) अपने आश्रम में ले आए। सरस्वती अपने पुत्र को न पाकर व्याकुल हुईं, तब वाल्मीकि ने उन्हें भृगु के आश्रम में उसके होने का पता बताया। इससे शुक्राचार्य की तरह वाल्मीकि को भी छन्दोमयी वाणी प्राप्त हुई। इस छन्दस्वती वाणी या कविता को वाल्मीकि से व्यास ने ग्रहण किया।

राजशेखर ने कविता के भूलोक में अवतरण की यह चर्चा भारतीय इतिहास दृष्टि के अनुसार की है। उशना (शुक्र), वाल्मीकि और व्यास—ये तीन प्रथम कवि हैं।

राजशेखर ने प्रतिभा विवेचन में अन्य आचार्यों की दृष्टि से किंचित् भिन्न है। काव्यरचनाप्रक्रिया के वे दो सोपान मानते हैं—शक्ति और प्रतिभा। शक्ति से प्रतिभा जन्म लेती है। यह प्रतिभा भी दो प्रकार की है कारयित्री तथा भावयित्री। कवि की प्रतिभा कारयित्री है, प्रबुद्ध पाठक या श्रोता की प्रतिभा भावयित्री। राजशेखर ने कारयित्री के साथ भावयित्री की महत्ता को पहचाना। यह आवश्यक नहीं कि जो रच सकता है, वह रचना के मर्म का अवगाहन भी कर लेता हो। इसलिए सामान्यतया किसी एक व्यक्ति में दोनों प्रकार की प्रतिभाएँ एक साथ नहीं होतीं। अपवाद के रूप में कालिदास का एक पद्य राजशेखर ने यहाँ उद्धृत

किया है। यह पद्य किसी ऐसे विलक्षण व्यक्ति की प्रशंसा में है, जो रचनाकार भी है और भावक भी—

कश्चिद् वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणाना-
मेक: सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाचणोऽन्य: ॥

कोई ऐसा होता है, जिसमें कविता रचने की क्षमता है। कोई ऐसा भी होता है जिसमें कविता सुनने की विशेषता है। तुम्हारी कल्याणमयी बुद्धि दोनों में समर्थ है अत: वह हमें चकित कर देती है। एक में सारे गुणों का सान्निध्य नहीं हो सकता। एक पत्थर (पारस) होता है, जो सोने को जन्म देता है, तो दूसरा पत्थर (निकषोपल) होता है, जो उसकी परीक्षा करता है।

भोज और राजशेखर दोनों शास्त्रकाव्य और शास्त्र कवि की कोटियाँ स्वीकार करते हैं। शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभय कवि इन तीन कविकोटियों में भी वे इस धारणा को स्वीकार नहीं करते कि इन तीनों के बाद वाला पहले से श्रेष्ठ है। शास्त्र कवि भी राजशेखर के अनुसार तीन प्रकार के हैं—पहला, जो स्वयं शास्त्र रच रहा है, दूसरा, जो शास्त्र में काव्य का विनिवेश कर रहा है, और तीसरा जो काव्य में शास्त्र का विनिवेश कर रहा है। राजशेखर कहते हैं कि—'स्वस्वविषये सर्वो गरीयान्'—अपने-अपने क्षेत्र में सभी श्रेष्ठ हैं। कुल मिलाकर विचारप्रधान कविता लिखने वाला रससिद्ध काव्य की सृष्टि करने वाले से कमतर हो ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह रसवाद और ध्वनिप्रस्थान की सारी मान्यताओं के अस्वीकार का साहस है, जो राजशेखर यहाँ प्रकट करते हैं। इसके साथ ही वे शास्त्र और काव्य में परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव संबंध भी स्वीकार करते हैं—उपकार्योपकारकभावं तु मिथ: शास्त्रकाव्ययोर्मन्यामहे)। यह भी उतनी ही साहसिक मान्यता है। राजशेखर ने बहुत चतुराई के साथ उपकार्योपकारकभाव के साथ पारस्परिकता का सूचक मिथ: यह अव्यय जोड़ा है। आशय यह कि शास्त्र काव्य का उपकार करे यही सच नहीं है; काव्य भी शास्त्र का उपकार करता है।

शास्त्र और काव्य के अन्त:संबंधों की घनिष्ठता पारस्परिकता के स्वीकार के साथ राजशेखर उस धरातल पर खड़े होते हैं, जहाँ से वे कविता के विरोधियों को दो टूक और सधा उत्तर दे सकें। साहित्य, कला और कविता का विरोध जड़ धर्मशास्त्री बराबर करते आ रहे थे। कवि को आदर्श राज्य से बहिष्कृत करने वाले प्लेटो यदि ग्रीस में हुए, तो भारत में भी उनकी एक परम्परा थी। कविता के इन विरोधियों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए राजशेखर ने उनके त्रिविध वक्तव्य उद्धृत किए हैं—(१) कविता असत्य कहती है, (२) कविता असत् का उपदेश देती है, (३) कविता असभ्य अर्थ का कथन करती है। इन तीनों आक्षेपों का

निराकरण वे प्रतिपक्षियों की तर्कप्रणाली और उनके अपने शास्त्रों का हवाला देकर करते हैं। शास्त्र भी तो अर्थवाद आदि के द्वारा असत्य का अभिधान करता प्रतीत होता है और जितनी अश्लीलता कविता में उसके विरोधियों को दिखती है, उससे अधिक तो उन्हें वह वैदिक मंत्रों में दिखनी चाहिए।

राजशेखर इससे आगे जाते हैं, वे कहते हैं—'कविवचनायत्ता च लोक-यात्रा, सैव निःश्रेयसमूलम्।'

लोकयात्रा या हमारा रोजमर्रा का संसार ही कविवचनों के अधीन है। उसी में मुक्ति का बीज भी है।

इस शब्दावली में इस प्रकार का विमर्श संस्कृत काव्यशास्त्र में केवल राजशेखर ने किया है। आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों ने कवि को काव्यविश्व का प्रजापति तो बताया था, पर राजशेखर जो बात यहाँ कह रहे हैं, वह उनसे अनोखी है। वे कह रहे हैं कि हमारा संसार भी कवि के वचनों के अधीन है। हमारी अपनी दुनिया साहित्य से बनती सँवरती है और इसीलिए कविता मनुष्य की मुक्ति का बीज भी बनती है। कविता और जीवन के संबंधों को इस रूप में राजशेखर ने ही प्रस्तुत किया।

तब कविता और हमारे निपट भौतिक संसार के संबंध के बारे में यह सवाल भी उत्पन्न होता है कि यह संसार क्या कविता के सर्वथा अधीन है और उसी से चल रहा है। अवन्तिसुन्दरी का मत यहाँ राजशेखर ने उद्धृत किया है। वस्तु का अपना क्या स्वरूप होता है? कविता में वस्तु जिस तरह वर्णित होती है, क्या संसार में उससे उसका अपना स्वायत्त स्वरूप होता है? अवन्तिसुन्दरी कहती हैं—'विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम्' वस्तु का नियत कोई स्वभाव नहीं होता, कवि अपनी रचनावचनावली में उसे जैसा निरूपित करता है वैसी वह हो जाती है। इसका आशय तो यह हुआ कि भौतिक दुनिया की अपनी स्वायत्तता नहीं, वह साहित्य के आयत्त है। यह भी एक अतिवादी दृष्टिकोण है।

राजशेखर इस अति का त्याग करते हुए कहते हैं दोनों अपनी-अपनी जगह सही हैं—हमारा संसार कविता से नियंत्रित भी होता है, पर उसे चलाने उसकें अपने नियम भी हैं।

मुक्तक के उन्होंने शुद्ध, चित्र, कथोत्थ, संविधानकभूः और आख्यानवान् ये पाँच प्रकार अर्थ की दृष्टि से माने हैं। कथोत्थ वह है जिसका इतिवृत्त समाप्त हो गया हो। संविधानकभूः में इतिवृत्त की संभावना बनी रहती है और आख्यानवान् में इतिवृत्त परिकल्पित होता है।

राजशेखर संस्कृत कविता में लोक जीवन की धारा या जीवन की गहन अनुभूतियों की कविता से साक्षी हैं और इस कविता की व्याख्या के लिए वे नई कसौटियाँ भी निर्मित करते हैं। इस दृष्टि से पदवाक्यविवेक नाम का उनका

काव्यमीमांसा का छठा अध्याय उदाहरणीय है। किसी एक पद का समुचित चयन कविता में चमक ला देता है, भाव को आभासित कर देता है। इसमें अनेक कोटियाँ हो सकती हैं। इन्हीं में है समुचिताख्यात या सही क्रिया का प्रयोग। इसका उदाहरण राजशेखर ने यह दिया है—

परिग्रहभराक्रान्तं दौर्दत्यगतिचोदितम्।
मनो गन्त्रीव कुपथे चीत्करोति च याति च॥

(परिग्रह के बोझ से लदा हुआ / दुर्गति की चाल से चलाया गया / कुमार्ग पर चलती गाड़ी सा / चीत्कार करता है मन / और बढ़ता है आगे।)

गाड़ी भी चीत्कार या चीं चीं की आवाज करके चल रही है। मन भी चीत्कार करता हुआ चल रहा है। इसके लिए चीत्करोति च याति च—चीत्कार भी करता है और चल भी रहा है—यह कहा गया।

वैसे तो इस छोटे से पद्य में परिग्रह (गाड़ी पर लदा बोझ, गृहस्थी का दायित्व, झंझट या भार) और दौर्गत्य (ऊबड़खाबड़ रास्ते पर लड़खड़ा कर चलना, जीवन की दुर्गति) इन दोनों शब्दों का श्लेष भी सारी काव्यानुभूति को गहराई देता है, पर चमत्कार तो 'चीत्करोति च याति च' इन क्रियाओं के प्रयोग का है।

उन्होंने योगेश्वर को अर्थकवि कहा है, कालिदास को रस कवि।

राजशेखर ने कविता या साहित्य की वस्तु के विश्लेषण के लिए अपने कुछ विशेष मानक ईजाद किए हैं। उन्होंने काव्यार्थ की सोलह योनियाँ बताईं हैं—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (मीमांसा और तर्क), राजसिद्धान्तत्रयी (अर्थशास्त्र, नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र), लोक, कविरचना (महाकवियों के काव्य), प्रकीर्णक, उचित संयोग, योक्तृसंयोग, उत्पाद्यसंयोग तथा संयोगविकार। काव्यार्थ के भी अनेक भेद उन्होंने प्रतिपादित किए हैं। पर इनमें से कुल मिलाकर दो प्रकार मुख्य हैं—विचारितसुस्थ और अविचारितरमणीय। विचारितसुस्थ में सोच और समझ से दृष्टि उभरती है, अविचारित में प्रतिभा सहज रूप में अपने को व्यक्त करती है।

काव्यधाराओं और कविपरम्पराओं के बीच संवाद की बात आनन्दवर्धन ने जिस तरह उठाई थी, उसको राजशेखर ने नए आयाम के साथ विस्तार दिया है। साहित्य में मौलिकता और अनुकरण पर इतना विशद विवेचन अन्य किसी आचार्य ने नहीं किया। मौलिकता की दृष्टि ले राजशेखर ने काव्यार्थ की तीन कोटियाँ मानीं—अयोनि, निह्नुतयोनि तथा अन्ययोनि। वामन ने अपने समाधिगुण के विचार में इनमें से अर्थ की दो कोटियाँ बतलाईं थीं, जिन पर वामन विषयक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। इनमें से अयोनि अर्थ में सर्वथा मौलिक वस्तु रहती है, जिसमें कवि की अपनी सूझबूझ झलके। यह अयोनि अर्थ भी तीन प्रकार का है—लौकिक, अलौकिक तथा इन दोनों का मिश्रण। अर्थात् लोक की

गहरी समझ और सूक्ष्म पयर्वेक्षण से भी सर्वथा नवीन या मौलिक अर्थ का सन्धान कवि कर सकता है और लोक को अतिक्रान्त करके भी। लौकिक अयोनि अर्थ उदाहरण राजशेखर ने यह दिया है—

मा कोशकारकलिके वह वर्णगर्वं
किं डम्बरेण चणिके तव कौसुमेन।
पुण्ड्रेक्षुयष्टिरियमेकतरा चकास्तु
या स्यन्दते रसमृतेऽपि हि यन्त्रयोगात्॥

हे कोशकारकलिका, अपने चटकीले रंग पर मत इतरा। हे चने के पौधों, तुम भी अपनी पुष्पों के सम्भार पर मत भरमाओ। हमारे लिए तो यह पौंडे की ईख भली, जो बिना यंत्र के भी रस को बहाती रहती है।

जिस तरह अभिनेता वेश बदलकर नया सा दिखने लगता है, उसी प्रकार एक काव्य का अर्थ दूसरे कवि की रचना में नया चोला पहन कर आ जाता है। इसे राजशेखर ने नटनेपथ्य कहा है। गाहासतसइ (३१५) का यह पद्य उन्होंने उद्धृत किया है—

नेच्छइ पासासंकी काओ दिण्णंपि पहिअघरिणीए।
औहत्तकरयसोग्गलिअवलयमज्झट्ठिअं पिंडम्॥

(प्रवासी की घरवाली ने कौवे के लिए पिंड रखा, पिंड पर घेरा बनाकर जा गिरा दुबलाई उसकी कलाई का कंगन। कौवा पिंड ले ही नहीं रहा, डर रहा है कि उसके लिए जाल बिछाया गया है।)

दत्तं पिण्डं नयनसलिलक्षालनाधौतगण्डं
द्वारोपान्ते कथमपि तया सङ्गमाशानुबन्धात्।
वक्रग्रीवश्चलनतशिरः पार्श्वसंञ्चारिचक्षुः
पाशाशङ्की गलितवलयं नैनमश्नाति काकः॥

(आँसुओं से धुल धुल जाते कपोलों वाली विरहिणी ने दरवाजे के पास किसी तरह पिंड रख दिया—प्रिय से समागम की आशा जो उसके मन में बँधी थी। उस पिंड पर विरहिणी का कंगन जा गिरा। अब कौवा गरदन तिरछी कर रहा है, मस्तक हिला कर नीचे तक झुका रहा है, आसपास तक रहा है, पर पिंड के आसपास घेरा रचने वाले वलय को पाश समझकर पिंड को खा नहीं रहा है।)

बात को कुल वही है, पर विशेषणों का पहनावा यहाँ बढ़ गया है।

व्यावहारिक समीक्षा के लिये नई काव्यकोटियों की उद्भावना तथा साहित्य के अपने प्रामाण्य की स्थापना में राजशेखर का अवदान अप्रतिम है।

●

अध्याय-९

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त का समय भारतीय प्रज्ञा के समुल्लास का शिखरकाल था। कुछ सहस्त्र वर्षों की शास्त्रचिन्तन की सम्पन्न परम्पराएँ अपनी परिणतियों पर पहुँच गईं थीं। इस समुल्लास का केन्द्र भी था भारतीय वसुन्धरा के शीर्ष पर मुटुकमणि की तरह चमकता हुआ काश्मीर प्रान्त। काश्मीर ऋषियों की साधनास्थली रही है। भरतमुनि ने इसी प्रान्त के आस-पास नाट्यशास्त्र रचा व नाट्यप्रयोग किए। पर भरत के बहुत पहले यहाँ कश्यप ऋषि रहे होंगे, जिनके नाम पर काश्मीर को काश्यपी या कश्यपपुत्री भी प्राचीन साहित्य में कहा गया है। कश्यप ऋषि पिंगल (छन्द:शास्त्र) तथा नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे। अग्निपुराण (४/२२) में छन्द:शास्त्र के संबंध में उनका मत उद्धृत किया गया है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में उनकी ७५ कारिकाएँ उद्धृत की हैं। काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका में काव्यशास्त्र के आचार्यों में उनका परिगणन किया गया है। इन्हीं कश्यप के आश्रम में राजा दुष्यन्त के द्वारा तिरस्कृत शकुन्तला पाँच वर्ष तक रही, यही वह स्थल है जिस पर गेटे के शब्दों में धरती और स्वर्ग का मिलन हुआ। यहाँ शास्त्र परम्परा ने कुछ अद्वितीय और विलक्षण रूप पाया। बादरायण के ब्रह्मसूत्र और उस पर वेदान्त के आचार्यों के द्वारा किए गए विचार और विस्तार सारे भारत में मान्य हुआ, पर काश्मीर में उसके स्थान पर शैवाद्वैत फला फूला।

शैवदर्शन व शैवागमों की परम्परा इसी धरती पर फली-फूली। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन को हिमालय के शिखरों के समक्ष ऊँचाई यहाँ मिली। वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पल, राजानक, रत्नकण्ठ, भास्कर, रामकण्ठ, क्षेमराज, भट्ट वामदेव, कल्लट, सुभट, जयरथ—ये सब और भी शैवदर्शन के महान् आचार्य कश्मीर ने विश्व को दिए। बौद्ध परम्पराओं के कारण चीन से कश्मीर का संबंध ईसापूर्व की शताब्दियों से लगा कर मध्य काल तक बना रहा। चीन के राजाओं ने अपने दूत यहाँ भेजे, धर्म प्रचार के कार्य में काश्मीर के बौद्ध साधकों ज्ञानियों का सहयोग लिया। कुमारजीव चीन से यहाँ अध्ययन करने आए—ऐसी अनुश्रुति मिलती है। हुएन सांग कश्मीर में दो वर्ष रहा। वह विक्रमादित्य (५९२ ई.) के उत्तराधिकारी बालादित्य के समय यहाँ रहा होगा ऐसा अनुमान होता है। धर्मोत्तराचार्य, जिनमित्र शितिकण्ठ, वरदराज आदि अनेक धर्मचार्यों की साधना स्थली कश्मीर

रही। नैयायिक जयन्तभट्ट ने यहाँ रह कर न्याय दर्शन को प्रखर तर्क की सान पर कसा, उन्होंने आगमडम्बर प्रहसन भी अन्य धर्मों पर छींटाकशी करते हुए यहीं रचा।

चन्द्रक, भौमक, शंकुक, भर्तृमेण्ठ, भल्लट, अभिनन्द, रत्नाकर, शिवस्वामी, बिल्हण, सोमदेव, मंख, जल्हण, जयरथ, श्रीवर, युधिष्ठिरविजय महाकाव्य के प्रणेता वासुदेव आदि संस्कृत के कवि यहाँ रहे। इनमें से चन्द्रक, भौमक, शंकुक, भर्तृमेण्ठ, भल्लट, अभिनन्द, रत्नाकर और शिवस्वामी अभिनवगुप्त के पहले हो चुके थे। गुणाढ्य की बृहत्कथा के दो रूपांतर कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी यहीं निर्मित हुए और उस पर आधारित प्राकृतकथा वसुदेवहिंडी का प्रणयन भी यहीं हुआ। प्रवरसेन ने प्राकृत का अमरकाव्य सेतुबंध यहीं रह कर रचा। अप्रतिम टीकाकार वल्लभदेव भी यहीं हुए और सुभाषितावली के संग्रहकार वल्लभदेव भी यहीं के थे। काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा के जाज्वल्यमान नक्षत्रों की सबसे सुदीर्थ पहली पाँत काश्मीर में ही थी। ईसा की पहली शताब्दी से लगा कर तेरहवीं शताब्दी तक भारतीय काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के समग्र चिन्तन का उत्स और प्रवाह कश्मीर की धरती पर हुआ। काव्यशास्त्र के आचार्यों में भामह कदाचित् काश्मीर के ही थे। नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों में मातृगुप्त, कीर्तिधर, भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, उद्भट जैसे सचमुच के उद्भट आचार्य यहीं हुए। प्रतीहारेन्दुराज मुकुलभट्ट से काव्यशास्त्र का अध्ययन करने के लिए कोंकण से चल कर काश्मीर आए और यहीं बस गए। वामन, आनन्दवर्धन, भट्टेन्दुराज, भट्टतोत, मुकुलभट्ट, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट और रुद्रट जैसे मूर्धन्य आचार्य अभिनवगुप्त के पहले कश्मीर में हो चुके थे, अभिनवगुप्त के पश्चात् उन्हीं के शिष्य क्षेमेन्द्र और उनके मतायनुयायी मम्मट ने उनकी परम्परा को विस्तारित किया।

अभिनवगुप्त ने अपने ध्वन्यालोकलोचन में स्वयं को ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के प्रणेता आचार्य उत्पलदेव का प्रशिष्य बताया है। शैवदर्शनशन की परम्परा में उनकी विशाल कृति तन्त्रालोक का अद्वितीय महत्व है। तन्त्रालोक में उन्होंने अपना परिचय देते हुए अपने पुरखों का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार उनके पूर्वज मध्यदेश में कान्यकुब्ज के निवासी थे। राजा यशोवर्मा के शासनकाल में कान्यकुब्ज में उनके पूर्वज अभिगुप्त रहते थे। अभिगुप्त की ख्याति कान्यकुब्ज में ही नहीं काश्मीर तक रही होगी, क्योंकि जब काश्मीर के राजा ललितादित्य ने यशोवर्मा को पराजित किया, तो वह अभिगुप्त को भी अपने साथ काश्मीर लेकर आया। उसने अभिगुप्त को मान सम्मान के साथ वितस्ता (झेलम) के किनारे प्रवरपुर के पास अचल सम्पत्ति देकर बसाया। उन्हीं अभिगुप्त के वंश में

वराहगुप्त हुए। वराहगुप्त के पुत्र थे नरसिंहगुप्त। ये ही नरसिंहगुप्त अभिनवगुप्त के पिता थे। अभिनव ने अपनी माता का नाम दुस्सला बताया है।

अभिनवगुप्त के वंशपरम्परा महान् पण्डितों की थी, उनका परिवार वैदुष्य के कारण प्रतिष्ठित था। अपने चाचा वामन का वे एक कवि के रूप में उल्लेख करते हैं, जो आचार्य वामन से भिन्न हैं। अपने चचेरे भाइयों में अभिनवगुप्त ने क्षेमगुप्त, उत्पलगुप्त, चन्द्रगुप्त और पद्मगुप्त का स्मरण किया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने राजपरिवार से जुड़े अनेक यशस्वी लोगों के नाम भी अपने ग्रंथों में लिये हैं, जिन्होंने उन्हें सम्मान दिया। उनकी विशद गुरुपरम्परा थी। उन्होंने अपने समय के लगभग पच्चीस श्रेष्ठ गुरुओं से अध्ययन किया। उनके पिता अपने समय के श्रेष्ठ पण्डित थे, जिनसे अभिनव ने व्याकरण का अध्ययन किया था, तन्त्रालोक में वे पिता के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहते हैं—'पित्रा स शब्दगहने कृतसम्प्रवेशः।' (तन्त्रा. १२/४१३)। उनके गुरुओं में इन्दुराज संस्कृत के श्रेष्ठ कवि तथा काव्यशास्त्र के बड़े आचार्य थे। तन्त्रालोक के आरम्भ में ही उन्होंने अपने को 'भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवास' कहा है। नाट्यशास्त्र का अध्ययन उन्होंने भट्टतोत से किया था और तोत के ग्रंथ का एक बड़ा अंश अभिनवगुप्त के द्वारा अपनी अभिनवभारती में उनके ग्रंथ से दिए उद्धरणों से ही पुनर्विन्यस्त किया जा सकता है। भट्टतोत ने काव्यकौतुक नाम के काव्यशास्त्रीय ग्रंथ की रचना की थी। काव्यकौतुक काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रंथ था, इस पर आचार्य अभिनवगुप्त ने विवरण नाम से टीका लिखी थी। काव्यकौतुक और विवरण दोनों ही अब लुप्त हैं।

अभिनव की कतिपय रचनाओं से उनके रचनाकाल का भी पता चलता है। इनमें क्रमस्तोत्र का रचनाकाल ९९०-९१ ई. है, भैरवस्तोत्र का ९९२-९३ ई. तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी का प्रणयन १०१४-१५ ई. के आस-पास हुआ। इन सब उल्लेखों के आधार पर अभिनवगुप्त का समय ९५० ई. से १०३० ई. के बीच माना जाता है।

अभिनवगुप्त के लगभग पैंतालीस ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। इन ग्रंथों को मुख्यतः तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है—काव्यशास्त्र या कलाचिन्तन से सम्बद्ध ग्रंथ, शैवदर्शन तथा तन्त्र से संबंधित ग्रंथ तथा स्तोत्र काव्य। काव्यशास्त्र या कलाचिन्तन से सम्बद्ध ग्रंथों में उनकी दो कृतियाँ ही उपलब्ध हैं—भरतमुनि के नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती तथा आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक पर लोचन नाम से टीका। ये दोनों व्याख्याएँ होते हुए भी भारतीय काव्यशास्त्र में मौलिक चिन्तन के प्रकर्ष के लिए जानी जाती हैं।

दूसरी कोटि में शैवदर्शन तथा तन्त्र पर अभिनव ने जिन ग्रंथों की प्रणयन किया, उनसे दर्शन और तन्त्र की परम्परा को अनन्य प्रतिष्ठा मिली।

अभिनवगुप्त बाल्य में ही माता से वियुक्त हो गए, तन्त्र और शिवभक्ति में रम गए। तन्त्रालोक में वे अपने आप को 'साहित्यसान्द्ररसभोगपर' तथा 'स्वयं-ग्रहणदुर्मदा महेश-भक्ति से गृहीत' कहते हैं (तन्त्रा. १२/४१४) गुरुजनों के यहाँ सेवा में उन्होंने अपने को खपा दिया, परिवार में पाण्डित्य परम्परा थी, जिसे उन्होंने सहेजा। गुरुओं की लम्बी सूची तो उन्होंने दी ही है, चचेरे भाइयों व परिवार के अन्य सदस्यों का भी उल्लेख किया है, जो विद्याव्यासंग और ज्ञान-साधना में उनके साथ रहे।

अभिनवगुप्त अपने जीवनकाल में ही किवदन्ती बन गए थे। काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीका में उनके बाल्यकाल के विषय में एक किवदन्ती का उल्लेख किया है। बचपन में अभिनव पास की एक पाठशाला में अध्ययन के लिए जाते थे। उनकी मुखरता और पाण्डित्य से पाठशाला में पढ़ने वाले अन्य बालक इतने आतंकित थे कि वे अपने इस सहाध्यायी को बालवलभीभुजंग कहने लग गए थे। आचार्य कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अभिनवगुप्त के विषय में दक्षिण की एक परम्परा का उल्लेख किया है जिसमें वे पतंजलि के ही समान शेषनाग के अवतार स्वीकार कर लिये गए। तन्त्र परम्परा में अभिनवगुप्त को कहीं साक्षात् भैरव बताया गया है, कहीं साक्षात् श्रीकण्ठ या शिव। मधुराज योगी के गुरुपाद-परामर्श में उन्हें श्रीकण्ठ कहा गया है (पाण्डेय: १९६३:२०)। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए कितनी खाक अभिनव ने छानी यह कहना कठिन है। उन्होंने स्वयं अपने ग्रंथों में इसके संकेत दिए हैं, यहाँ तक कि जिन सम्प्रदायों व धर्मों के प्रति उनकी आस्था नहीं थी उनके गुरुओं के पास भी वे अध्ययन के लिए गए—'अध:शास्त्रदृष्टिकुतूहल' अस्वीकार्य शास्त्रों की दृष्टि भी समझनी चाहिए इस कौतूहल के कारण (तन्त्रा. ८/२०६)।

(२)

अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की व्याख्या में दस प्रकार की प्रविधियों को अपनाया। अभिनवभारती के आरम्भ में इन प्रविधियों का परिगणन वे इस प्रकार करते हैं—

उपादेयस्य सम्पाठस्तदन्यस्य प्रतीकनम्।
स्फुटव्याख्या विरोधानां परिहार: सुपूर्णता।
लक्ष्यानुसरणं श्लिष्टवक्तव्यांशनिवेशनम्।
सङ्गति: पौनरुक्त्यानां समाधानमनाकुलम्।
सङ्ग्रहश्चेत्ययं व्याख्याप्रकारोऽत्र समाश्रित: ॥

इस प्रकार नाट्यशास्त्र की व्याख्या में यह पद्धति अभिनवगुप्त ने अपनाई है—(१) उपादेय का सम्पाठ—जिन विषयों का विवेचन करना है, उनका

नामतः परिगणन, (२) प्रतीकन—जिन विषयों का विवेचन नहीं करना है, उन्हें छाँट कर अलग करना, (३) स्पष्ट व्याख्या, (४) विरोध का परिहार, (५) विवेचन की पूर्णता, (६) लक्ष्य का अनुसरण, (७) श्लिष्ट या सामंजस्यपूर्ण वक्तव्य का सन्निवेश, (८) पुनरुक्तियों की संगति पर विचार (९) अनाकुल समाधान तथा (१०) संग्रह।

नाट्यशास्त्र की व्याख्या के संरम्भ में आचार्य अभिनवगुप्त के अपने आग्रह या प्राक्कल्पनाएँ एकदम स्पष्ट हैं। ये अवधारणाएँ और प्राक्कल्पनाएँ ही उनके व्याख्यान को सुबन्धु, उद्भट, कीर्तिधर, मातृगुप्त, भट्टनायक आदि पूर्व के व्याख्याकारों के अलग और विशिष्ट बनाती हैं।

इन व्याख्याकारों की व्याख्यासरणियों को अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया है, इस तरह उनकी अभिनवभारती नाट्यशास्त्र की दो हजार साल से हो रही व्याख्या पद्धतियों का एक महाकोश भी बन गई है। व्याख्याओं के इस कान्तार में अपना एक राजपथ निर्मित करना सहज कार्य नहीं था। अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टेन्दुराज की व्याख्यापद्धति का अनुगमन किया।

वे पूरे नाट्यशास्त्र को भरतमुनि का रचा हुए मानते हैं। नाट्यशास्त्र भरतमुनि का रचा हुआ नहीं है—यह पक्ष उनके पहले के कुछ आचार्यों के द्वारा उठाया गया था, जिस पर भरतमुनिविषयक अध्याय में चर्चा की गई है। इन आचार्यों का कहना था कि नाट्यशास्त्र में भरतमुनि का अन्य पुरुष में अनेकत्र उल्लेख हुआ है। अतः यह माना जाना चाहिए कि किसी अन्य ने भरतमुनि का स्मरण करते हुए यह ग्रंथ रचा। इसके उत्तर में अभिनवगुप्त कहते हैं—भरतमुनि ने अन्य पुरुष के रूप में अपनी परिकल्पना करके स्वयं यह ग्रंथ रचा है—'भरतमुनिः परवदात्मानं प्रकल्प्य ग्रन्थमभिहितवान्।' (*अभिनवभारती,* भाग-१, पृ. ८) ग्रंथकार के द्वारा स्वयं को तृतीय पुरुष में उल्लेख करना शास्त्र की परम्परा रही है। अभिनव इस मत को सर्वथा दुराग्रह मानते हैं कि जिन अंशों में भरतमुनि का अन्य पुरुष में उल्लेख है, उनको तो उनके किसी शिष्य ने रचा और शेष ग्रंथ भरतमुनि ने रचा। उनका मत है कि परवचन और स्ववचन को पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के रूप में प्रस्तुत करने के लिए इस शास्त्र में जो व्याख्या शैली अपनाई गई है, उसके कारण भरतमुनि अपना नामोल्लेख स्वयं करते हैं। सदाशिव, ब्रह्म और भरत के मतों में ब्रह्म के मत की सारता बताने के लिए यह ग्रंथ किसी ने लिखा है, यह मानना तो पूरे ग्रंथ को ही प्रक्षिप्त मान लेना है, और ऐसा मत किसी नास्तिकधुर्योपाध्याय का ही हो सकता है। (*अभिनवभारती,* भाग-१, पृ. ६)

अभिनवगुप्त पूरे नाट्यशास्त्र की एक महावाक्य के रूप में व्याख्या करते हैं। काश्मीर शैव दर्शन से अधिगत दृष्टि के आलोक में उन्होंने नाट्यशास्त्र के

सारे पाठ और उसकी व्याख्या पद्धतियों को एक अन्विति दी है। उनका अपना कला चिन्तन भी शैव दर्शन की आधारभित्ति पर विन्यस्त है। प्रकाश और विमर्श—इन दो तत्त्वों के द्वारा इस दर्शन में सृष्टि मानी गई है। शिव परम तत्त्व हैं। प्रकाश इस परम तत्त्व का सत्ताविषयक या ज्ञानविषयक स्वातन्त्र्य है, विमर्श क्रियाविषयक स्वातन्त्र्य है। स्वात्मोच्छलता या आत्मा का उच्छलन स्पन्द है। स्पन्द के द्वारा संकोच और विकास या उन्मीलन और निमीलन होता है।

शिव इस जगत् की सृष्टि करके इसमें समाए हुए हैं। वे परम तत्त्व भी हैं और संसार भी। स्पन्दकारिका ३२ में कहा गया है—भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः—जो भोक्ता है वही भोग्य के रूप में भी सदा सर्वत्र स्थित है। शिव देह धारण करके भोक्ता बन जाते हैं—भोक्ता च तत्र देही शिव एव गृहीत-पशुभावः (परमार्थसार-५०)।

अभिनव के पूर्व भट्टनायक ने भी शैव दर्शन की आधारभित्ति पर ही अपने काव्यसिद्धांत को प्रतिष्ठित किया था। जिस प्रकार शिव त्रिलोकी का निर्माण करते हैं उसी प्रकार जगन्नाट्य का निर्माण कवि और नट करते हैं और प्रेक्षकों को इसके प्रयोग में रस आता है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की पहली कारिका के ही व्याख्यान में नाट्य की पुमर्थोपायता पर प्रकाश डालते हुए भट्टनायक की यह कारिका उद्धृत की है—

नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः।
प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः॥

यह जगत् शिवमय है, जिस तरह शिव विभाग शून्य अखण्ड है, उसी तरह परमार्थ रूप में यह भी विभागशून्य तथा अखंड है। पर जिस तरह दर्पण में हम प्रतिबिम्ब देखते हैं, तो उस प्रतिबिम्ब में अंग-प्रत्यंग अलग-अलग झलकते हैं, वास्तव में दर्पण एक और अखंड है, प्रतिबिम्ब इस दर्पण से अलग कुछ नहीं है, पर वह अलग झलकता है, उसी तरह यह संसार शिव से अलग झलकता है।

दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादिचित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव परस्परं दर्पणादपि च॥
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वत् विभागशून्यमपि।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्॥

(*परमार्थसार,* १२-१३)

चूँकि इस जगत् में शिव समाए हुए हैं अतः यह जगत् मिथ्या नहीं है। उसी तरह अभिनवगुप्त की दृष्टि में कला न भ्रम है, न आरोप, न निश्चयात्मक ज्ञान या अध्यवसाय। वह रसस्वभाव वस्तु है। कला रस है और रस कला है। यही रस परम तत्त्व भी है। अतएव कलानुभूति परम तत्त्व की अनुभूति हो जाती है।

शिव प्रकाशमय है। इसी प्रकाश में आभास होता है। आ (ईषत् या किंचित्) भास रहना आभास है। यह दो प्रकार का है—सामान्यलक्षणाभास और स्वलक्षणाभास। सामान्यलक्षणाभास आभासमानता का सार है। स्वलक्षणाभास देशकालसम्मिश्र अनुभव है।

रचनाकार भी शिव की तरह निर्मिमित्सा या रचने की इच्छा से आविष्ट होता है। प्रकाश, विमर्श और स्पन्द उसकी रचनाप्रक्रिया में उन्मिषित होते हैं। *तन्त्रालोक* में अभिनवगुप्त ने कहा है—

तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते॥
तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदर्शने।
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम्॥
संवित् सर्वात्मिका देहभेदाद् या सङ्कुचेत् तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसङ्घट्टप्रतिबिम्बाद् विकस्वरा॥
उच्छलन्निजरश्म्यौघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहुदर्पणवद् दीप्तः सर्वांशेनाप्ययत्नतः।
अतएव नृत्तगीतप्रभृतौ बहु पर्षदि।
यः सर्वतन्मयीभावो ह्लादो नत्वेककस्य सः॥
आनन्दनिर्भरासंवित् प्रत्यक्षं सा तथैकताम्।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते॥

(एकाग्र चित्त होकर सारे सामाजिक जन नृत्त, गीत आदि की प्रस्तुति को अमृतमय मानकर उसमें तल्लीन हो जाते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि मल्लों, नटों आदि के खेल या प्रस्तुति को देखते हुए सारे प्रमाताओं या कलानुभव के मर्मज्ञों का एक पूर्ण अनुभव कराने वाला तादात्म्य हो जाता है। जो सर्वात्मक संवित् या चेतन्य अलग-अलग देहों में सीमित होकर बसी हुई है, उसके अलग-अलग देहों में संकुचित रूप इस प्रकार के मेलों या सामूहिक प्रदर्शनों में परस्पर टकराते हैं, एक दूसरे में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं और कान्ति से आलोकित हो उठते हैं। तब आत्मा का उच्छलित होता किरण समूह इन चेतना के नाना रूपों में प्रतिबिम्बित हो जाता है। वह अनेक दर्पणों के एक साथ मिल जाने से अनायास दीप्त हो जाता है। इसीलिए नृत्त, गीत आदि को अनेक लोग जब एक साथ देखते हैं, तो जो आस्वाद का अनुभव होता है, वह उनमें से किसी एक का नहीं होता। आनन्द से सराबोर चेतना नृत्त आदि के विषय का प्रत्यक्ष या साक्षात्कार करती हुई पूर्ण आनन्द पाती है।)

अभिनवगुप्त का महनीय अवदान यह है कि भरतमुनि से लगाकर इनके समय तक कला, सौन्दर्य और काव्य के आस्वाद को लेकर जितना चिन्तन हुआ

उस सबको आत्मसात् करके अपने दर्शन की परिधि में उसके सारतत्त्व प्रतिष्ठित करके उन्होंने कलाशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र की ऐसी आधारभूमि निर्मित की, जो एक सहस्राब्दी से आज तक ग्राह्य या विचारणीय बनी रही है।

(३)

अभिनवगुप्त योगी थे, महान् दार्शनिक थे, तन्त्रवित् और साधक भी थे। फिर भी कविता और कला में उनका गहरा अभिनिवेश था। इस तरह के अभिनिवेश के उदाहरण हमारे इतिहास में श्री अरविन्द जैसे दो एक ही मिलते हैं। अपनी सारी पृष्ठभूमि में अभिनव के सामने कला और काव्य को प्रतिष्ठित करना एक चुनौती भी थी। उन्होंने इसके लिए काव्य व कला की पुमर्थोपायता या पुरुषार्थसाधकता पर बल दिया। भरतमुनि तथा अभिनवगुप्त दोनों की दृष्टि में रस पुरुषार्थ से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है। रस है तो पुरुषार्थ की सिद्धि अवश्य होगी। यह सत्य है कि इनके पहले भामह आदि आचार्यों ने काव्य को धर्मासाधनोपाय तथा पुरुषार्थों में विचक्षणता प्रदान करने वाला एक साधन भी बताया था। पर काव्य की पुमर्थसाधकता वहाँ एक अनिवार्य दार्शनिक प्रत्यय के साथ उस तरह स्थापित नहीं की गई, जिस तरह अभिनवगुप्त में। अभिनव बार-बार रस को पुमर्थोपाय (पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय) कहते हैं। इस तरह प्रत्येक कला अनिवार्यत: पुरुषार्थ की उपलब्धि का द्वार भी खोलती है। नाट्य-शास्त्र की पहली कारिका की व्याख्या में भट्टनायक ने कहा था कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र को ब्रह्मा के द्वारा निर्मित इसी दृष्टि से बताया है—अविद्यानिर्मित इस निस्सार संसार में ब्रह्मनिर्मित नाट्यवेद भी ब्रह्मस्वरूप नट के द्वारा जब मंच पर रचा जाता है, तो भौतिक जगत् की दृष्टि से काल्पनिक होते हुए भी वह पुमर्थोपाय बन जाता है।

पुरुषार्थनिष्ठता के कारण ही चार स्थायीभाव व उनसे जनित चार रस प्रधान हैं। रति काम पुरुषार्थ को प्रतिष्ठित करती है और काम पुरुषार्थ से अनुषक्त धर्म और अर्थ का प्रत्यय भी कराती है। क्रोध अर्थनिष्ठ होता है। उत्साह अर्थ और काम से संवलित होकर भी धर्म प्रधान होता है। तत्त्वज्ञानजनित निर्वेद मोक्ष का उपाय बनता है। भरतमुनि ने शृंगार, वीर, रौद्र और बीभत्स इन चार रसों को प्रधान रस तथा शेष चार हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक—को इनसे जनित अवान्तर रस कहा था। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के रसाध्याय में रससूत्र के अपने व्याख्यान में इनमें बीभत्स के ऊपर शान्त को प्रतिष्ठित कर दिया है (*अभिनवभारती,* भाग-१, पृ. २८२)। अभिनव ने नाट्य या कला की पुरुषार्थ साधकता पर विस्तार से चर्चा इस प्रकार की है—

नाट्ये तु पारमार्थिकं किञ्चिदद्य मे कृत्यं भविष्यतीत्येवम्भूताभि-सन्धिसंस्काराभावात् सर्वपरिषत्साधारणप्रमोदसारापर्यन्त समादरणीय-

लोकोत्तरदर्शनश्रवणयोगी भविष्यामीत्यभिसन्धिसंस्कारादुचितगीतातोद्य-चर्वणाविस्मृतसांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदयः सूच्याद्यभिनयावलोकनोद्भिन्नप्रमोदशोकादितन्मयीभावः पाठ्याकर्णन-पात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषा (+वेशा) नालिङ्गिते सम्यङ्मिथ्यासंशयसम्भावनादिज्ञानविज्ञेयत्वपरामर्शानास्पदे रामरावणादि-विषयाध्यवसाये तत्संस्कारानुवृत्तिकारणतत्सहचरहृद्यवस्तुरूपगीतातोद्य-प्रमदानुभवसंस्कारसूचितसमनुगततदुक्तरूपरामाध्यवसायसंस्कारमवाप्त-पञ्चषैर्दिवसैः (एव भवन् पञ्चषैर्दिवसैः) सचमत्कारतदीयचरितमध्य-प्रविष्टस्वात्मरूपमतिः स्वात्मद्वारेण तथा पश्यन् प्रत्येकं सामाजिको देश-कालविशेषापरामर्शेन एवङ्कारिणामिदमिति लिङ्गात्मकविधिसमर्पितं संविज्जातीयमेव संविद्विशेषरञ्जकप्राणवल्लभाप्रतिमरसास्वादसहचररम्य-गीतातोद्यादिसंस्काररसानुभववशेन हृदयाभ्यन्तरनिखातं तत एवोत्पुङ्ख-शतैरपि म्लानिमभजमानं भजंस्तत्तच्छुभाशुभप्रेप्साजिहासा स्यूतवृत्ति-त्वादेव शुभमाचरत्यशुभं समुज्झति। (*अभिनवभारती,* खण्ड-१, पृ. ३६)

अभिनवगुप्त के इस कथन का आशय यह है—प्रेक्षक यह संकल्प लेकर ही नाटक देखने या कलानुभव से जुड़ने के लिये जाता है कि इससे मुझे कुछ परमार्थ की प्राप्ति होगी। उसके भीतर यह बोध भी होता है कि परिषत् या नाटक देखने वाले समाज में सबको जो प्राप्त होगा, उसमें सर्वसमादरणीय लोकोत्तर तत्त्व के दर्शन और श्रवण का सहभागी मैं भी बनूँगा, तब गीत वाद्य आदि के आस्वाद में वह सांसारिक भाव को भूल जाता है, उसका हृदय निर्मल दर्पण जैसा बन जाता है, फिर अभिनय देखते हुए वह प्रमोद, शोक आदि भावों में तन्मय हो जाता है और पाठ्य अंश (संवाद) को सुनते हुए राम, रावण आदि पात्रों का वह अध्यवसाय उसके चित्त में जाग जाता है, जो देश विशेष और कालविशेष के बोध से अनालिंगित हुआ करता है तथा सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य और संभावना आदि ज्ञान की विविध प्रकार की कोटियों से भी अछूता होता है। इस अध्यवसाय से होने वाले संस्कारों की अनुवृत्ति उस सहृदय के चित्त में बनी रहती है, वह उन पात्रों के चरित्र में प्रवेश कर जाता है, अपनी आत्मा में उन्हें देखता है और तब जो-जो ऐसा करता है, वह ऐसा-ऐसा भोगता है—इस बोध को प्रत्येक सामाजिक या सहृदय प्रेक्षक अपनी चेतना में समो लेता है और इससे रंग जाता है। अनोखे रसास्वाद या कलानुभव के माध्यम से यह बोध उसके चित्त में उतरता जाता है, खुदता जाता है, इस तरह अंकता जाता है कि फिर पूँछता नहीं और इसके साथ ही शुभ को पाने की इच्छा और अशुभ को तज देने की इच्छा भी उसकी चेतना का अंग बन जाती है। अतएव अनिवार्यतया फिर सहृदय शुभ को हासिल करता है और अशुभ से छुटकारा पा लेता है।

अभिनव कलानुभूति की जो प्रक्रिया यहाँ सामने रख रहे हैं, उसमें रस या कलानुभव ईश्वर का भी साक्षात्कार करा देता है। प्रत्येक कला ईश्वर तक ले जाती है। नाट्यशास्त्र की पहली कारिका में कहा गया है—प्रणम्य शिरसा देवौ पितामहमहेश्वरौ—यहाँ पितामह ब्रह्मा और महेश्वर शंकर को प्रणिपात निवेदित किया गया है अभिनवगुप्त इसकी व्याख्या में कहते हैं कि पितामहेश्वरौ में छेकानुप्रास है। प्रणाम ही निवेदित नहीं किया गया, अलंकार या सौन्दर्य के साथ प्रणाम निवेदित किया गया है, क्योंकि अलंकार या कविता के सौन्दर्य से देवता प्रसन्न होते हैं।

कलानुभव ही नहीं कलासर्जना का भी अभिनव शैवागम व तन्त्र से प्राप्त आलोक में पुनरवलोकन करते हैं। इस दृष्टि से रचनाकार की प्रतिभा शक्ति है। प्रतिभा और शक्ति में वे राजशेखर की तरह फाँक नहीं मानते। यही प्रतिभा अथवा शक्ति पराशक्ति भी है और पराशक्ति साक्षात् महेश्वर है। अतएव कवि की प्रतिभा शिवस्वरूपा होती है।

(४)

कला का प्राण सौन्दर्य है। नाट्यशास्त्र में नाट्य के जन्म की कथा में भरतमुनि ब्रह्म से कहते हैं—ऐसा कुछ द्रव्य दे दीजिए जिससे कैशिकी वृत्ति नाट्य में प्रयोजित हो सके—दीयतां भगवन् द्रव्यं कैशिक्याः सम्प्रयोजकम्। (नाशा. १/४४)। यहाँ द्रव्य की व्याख्या करते हुए अभिनव कहते हैं—सौन्दर्य कैशिकी वृत्ति के द्वारा ही आ सकता है। श्रृंगार रस के प्रसंग में जो कुछ नेपथ्य साज-सज्जा की जाती है, वह कैशिकी के द्वारा होती है। पर कैशिकी वृत्ति से जो सौन्दर्य झलकता है वह मात्र वेशभूषा का सौन्दर्य नहीं है। वह भीतर और बाहर दोनों स्तरों पर रचा गया सौन्दर्य है। इसलिए केवल श्रृंगार रस में ही कैशिकी वृत्ति का विनियोग होता हो ऐसा नहीं। अभिनव कहते हैं कि रौद्र, भयानक और बीभत्स रसों में भी जो अभिनय अभिनेता करता है उसमें लय, छन्द, अलंकार आदि का जो सौन्दर्य है, उसके बिना तो रस हो ही नहीं सकता और यह सौन्दर्य कैशिकी वृत्ति लाती है।

जिस तरह शिव शक्ति से संवलित होकर विश्व रचते हैं, उसी तरह रचनाकार भी शक्ति से संवलित होकर विश्व रचता है। रचनाव्यापार वृत्ति है। आज की भाषा में इसे कलासर्जना की प्रक्रिया कह सकते हैं। इसकी तीन दिशाएँ हो सकती हैं—वाचिक, आंगिक और सात्त्विक। आंगिक भी दो प्रकार का हो सकता है—लालित्य और वैचित्र्य के अनुप्रवेश से सुकुमार और औद्धत्य के अनुप्रवेशसे उद्धत। इस तरह चार वृत्तियाँ बनती हैं। भारती, सात्त्वती, आरभटी और कैशिकी। रचनाकार इन चारों के द्वारा सृजन में प्रवृत्त होता है। भारती से वाणी, सात्त्वती के चित्त की एकाग्रता आरभटी से देह की चेष्टाएँ निरूपित होती

है। पर रचना में सौन्दर्य और लालित्य कैशिकी से आता है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त ने इनमें से कैशिकी वृत्ति को रचना का प्राण बताया है।

भारती वाग्वृत्ति है, सात्त्वती मनोवृत्ति, आरभटी कायवृत्ति और कैशिकी ललिता वृत्ति। भरतमुनि ने ब्रह्मा से कहा था कि कैशिकी का प्रयोग तो स्त्रियाँ ही कर सकती हैं पुरुष नहीं और मेरे पास तो स्त्रियाँ है नहीं, अत: आप अप्सराएँ मुझे दे दीजिए। अभिनवगुप्त भरतमुनि के इस कथन का दार्शनिक आशय खोलते हैं। वे कहते हैं कि रचना करने के लिए ईश्वर के समान चित्त की निर्मलता, पावनता और चमक या प्रकाश चाहिए। पर चित्त की इस निर्मलता, पावनता और प्रकाश में से भी रचना नहीं हो सकती, जब तक शक्ति या विमर्श उसके साथ न हो। यह स्त्री तत्त्व है, माया है। इसलिए वैराग्य से रचना नहीं हो सकती। मुनि जन कविता या नाटक नहीं रच सकते। पर मुनि के पावन चित्त में स्त्रीत्व का संसर्ग हो, शक्ति का संवलन हो तो वह रचना कर सकता है।

कैशिकी का सर्वप्रथम दर्शन भरतमुनि ने शंकर के नृत्योल्लास में किया था— दृष्टा मया भगवतो नीलकण्ठस्य नृत्यत:। (नाशा. १/४५) अभिनवगुप्त यहाँ कहते हैं कि शंकर ताण्डव रचते हैं अत: कैशिकी वृत्ति उनकी कलासृष्टि में नहीं हो सकती यह सोचना अनुचित है। शंकर परिपूर्ण आनन्द में डूब कर निष्प्रयोजन नृत्य करते हैं। बिना किसी प्रयोजन के यह जो रचने की प्रवृत्ति है, वही कैशिकी है।

केशा: किञ्चिदप्यर्थक्रियामकुर्वन्तो देहशोभोपयोगिन:। तद्वत्सौन्दर्योपयोगी व्यापार: कैशिकीवृत्तिरिति तावन्मुख्य: क्रम:। अन्यस्य तु यस्य तद्व्यपदेश: स तत्प्रधानत्वादनेकरसप्रधानं पानकरीत्या कैशिकीत्यादि मधुरव्यपदेशात्। एवं यत्किञ्चिल्लालित्यं तत् सर्वं कैशिकीविजृम्भितम्।

सौन्दर्यप्राणैव सा कैशिकी।

शङ्करस्येव भगवत: परिपूर्णानन्दनिर्भरीभूतदेहोच्चलदान्तरनिर्वार-सुन्दराकारस्य अत एव नृत्यत: इतिकर्तव्यतान्तरवैकल्यादा-नन्दनृत्तमात्रस्थितस्य।

रौद्ररसाभिव्यक्तावपि कर्तव्यायां योऽभिनय उपादीयते सोऽप्यनुप्रासवलना-वर्तनाद्यात्मकसुन्दरवैचित्र्यस्यामिश्रणतया दु:श्लिष्टोऽश्लिष्ट एव वा न रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवतीति सर्वतैत्र कैशिकी प्राणा:।

यावन्निजहृदयविलसद्विकस्वरनिर्वारचमत्कारपवित्रता न जाता भगवत इव, तावच्छिक्षाशतैरपि वैचित्र्यमनाहार्यम्। मुनिनां च निसर्ग-विषयविमुखचित्तवृत्तीनां को निर्वृतिचमत्कार:। योऽपि वा स समाधिज:, सोऽपि देहपर्यन्ततां न भजति। प्रत्युत तत: पलायमान:, अत: स्त्रीणां

तादृगस्ति वैचित्र्यम्। तत्सम्पर्कसम्भवदार्द्रभावास्तु कदाचिच्छक्नुयुरपि। (*अभिनवभारती,* बडोदरा, भाग-१, चतुर्थ सं. पृ. २०-२२)

(केशो का अलग से कोई प्रयोजन नहीं होता, वे देह की शोभा में उपयुक्त होते हैं। उसी तरह केशों के समान कैशिकी वृत्ति मुख्य रूप से कला के सौन्दर्य के लिये उपादेय है। इस नामकरण के आधार पर कैशिकी में सौन्दर्य की प्रधानता होती है, अत: अनेक रसों की प्रधानता से युक्त होने पर भी वह मधुर कही जाती है। कला में जितना जो कुछ भी लालित्य है, वह सब कैशिकी के कारण ही होता है। कैशिकी का प्राण सौन्दर्य है। उसकी अभिव्यक्ति शंकर के नृत्त में हुई, क्योंकि शंकर बिना किसी प्रयोजन के अपने भीतर के आनन्द मात्र में स्थित होकर नृत्त करते हैं, वे परिपूर्ण आनन्द में सराबोर रहते हैं, उसी से उनका देह संचालित होता है और आन्तरिक सौन्दर्य द्वारा नृत्त में आकार रचता है।

रौद्र रस की अभिव्यक्ति में भी जो अभिनय किया जाता है, उसमें अनुप्रास आदि का मिश्रण जब तक नहीं होगा, तब तक वह दु:श्लिष्ट या अश्लिष्ट बना रहेगा, अत एव सारे रसों की अभिव्यक्ति कैशिकी के द्वारा ही होती है—सर्वत्र कैशिकी ही प्राण है।

जब तक उन शंकर के ही समान अपने हृदय के विलास से चमकती परिपूर्ण चमत्कारमयी पावनता कलाकार के चित्त में न हो, तब तक सैकड़ों शिक्षाओं के होते हुए भी कला में सौन्दर्य नहीं आ पाएगा। इसीलिए जो मुनि स्वभावत: विषय से विमुख हैं, उनकी निर्वृत्ति में चमत्कार कैसे हो सकता है? उनके पास जो चमत्कार है, वह समाधिजन्य है, उसकी अभिव्यक्ति देह के द्वारा वे नहीं कर पाते। स्त्रियों में उस प्रकार का वैचित्र्य होता है, उनके सम्पर्क के द्वारा आर्द्रभाव प्राप्त करके मुनि जन भी कदाचित् देह के द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कर सकते हैं।)

(५)

शिव इस संसार में समाए हुए हैं। इसलिए इस संसार का हर एक विषय संविद्रूप है, चेतना से संवलित है। इस संविद्रूपता के कारण संसार के विषय रचनाकार के भीतर प्रकाश, विमर्श और स्पन्द का उल्लास रचते हैं। यह उल्लास वीर्यविक्षोभ भी कहा है। चमत्कार का अधिकावेश ही वीर्यविक्षोभ है। इस चमत्कार को भोगावेश भी कहा गया है। वीर्य, बल, ओजस्, प्राण तथा रमणीयता—ये समीकरण अभिनवगुप्त के दर्शन में बनते हैं। विमर्श अहंचेतन है।

संवित् में अनुप्रवेश कलाबोध के लिये आवश्यक है। विषय की विषय के रूप में प्रतीति पर्याप्त नहीं है। हम एक तिनके को देखते हैं। यह तिनका है—ऐसा बोध हमें होता है। यह विषय का विषय के रूप में बोध है। जब यह

तिनका या तृण चेतना का विषय बनता है, तो प्रकाश और विमर्श के द्वारा इसका बोध होता है। तृण प्रकाश का अंग बनता है और यह तृण है ऐसा बोध होना विमर्श का अंग है। अत: यह तिनका है ऐसा बोध जब हमें होता है, तो प्रकाश और विमर्श दोनों ही तिनके रूपी विषय से परे जाकर चेतना का अवलम्बन करते हैं। यह संविद्विश्रान्ति या अहं है।

इस संविद्विश्रान्ति में अनुभव करने वाला प्रमाता आत्मरूपमति हो जाता है, अपने आप में प्रतिष्ठित होता है और अपनी आत्मा के द्वार से वह संसार को देखता है (आत्मरूपमति: स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन्—नाशा. १/१०७ पर अभिनवभारती, भा. १, पृ. ३६)। जो संसार कला के अनुभव के समय सहृदय देखता है, वह सुखदु:खात्मक भावों से सम्मिश्रित एक जटिल संसार होता है। रसिक या सहृदय के सामने भावजगत् होता है। इस भाव जगत् में तमाम सांसारिक अनुभव गड्डमगड्ड रहते हैं। इसी में स्थायी भाव भी होते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि स्थायी भाव दो प्रकार के होते हैं—सुखात्मक और दुखात्मक। रति, हास, उत्साह, विस्मय—इतने स्थायी भाव तो सुखस्वरूप होते हैं और क्रोध, भय, शोक और जुगुप्सा—इतने स्थायी भाव दु:खात्मक होते हैं। यह सुखात्मकता या दु:खात्मकता भी इन भावों में सुख या दु:ख की प्रधानता के आधार पर ही मानी जानी चाहिए। ऐसा नहीं है कि रति, हास्य, उत्साह और विस्मय के साथ दु:ख जुड़ा न हो और ऐसा भी नहीं है कि क्रोध, भय, शोक और जुगुप्सा के साथ सुख संवलित न होता हो। शृंगार रस के स्थायी भाव रति का उदाहरण लें। इसमें चिरकाल व्यापी सुख जुड़ा होता है, यह सत्य है। पर रति के अनुभव में मनुष्य विषय के प्रति उन्मुख रहता है, विषय की कामना करता है, इस कामना में उपायभीरुता और उपायविकलता आ जुड़ी है। प्रिया से मिलने की चिन्ताएँ शामिल हो जाती हैं। अत: चाहे सम्भोग शृंगार हो या विप्रलम्भ (वियोग), रति में दु:ख का संवलन या सम्भेद तो रहता ही है। हास में भी सुख के साथ दु:ख दोनों अनुगत रहते हैं। क्रोध, जुगुप्सा जैसे स्थायी भावों में दु:ख का जुड़ाव चिरकालिक होता है, पर विषय के आत्यन्तिक नाश की भावन और आकांक्षा इनमें भी प्राण का संचालन करती है, इसके कारण सुख का उच्छ्वास इनमें बना रहता है। यहाँ तक कि करुण रस के स्थायी भाव शोक को भी अभिनवगुप्त सर्वथा दु:खरूप नहीं मानते इस शोक में भी पहले के सुख की स्मृतियाँ बिंधी रहती हैं, उनके कारण सुख इस सारे शोक के बीच कौंधता है। इस दृष्टि से रामचन्द्र गुणचन्द्र आदि जैन दर्शन की परम्परा के काव्यशास्त्रियों ने तो रस को सुख-दु:ख-सम्मिश्र अनुभव माना ही था। पर अभिनव की दृष्टि में रस सुखदु:खसम्मिश्र अनुभव नहीं है, क्योंकि सुखदु:खसम्मिश्र विपुल विश्व का

इसमें प्रमाता या सहृदय साक्षात्कार करता है। (नाशा. १/११९ पर *अभिनवभारती,* भाग-१, पृ. ४३)

इस पृष्ठभूमि में अभिनव ने सहृदय की सर्वथा अभिनव व्याख्या भी प्रस्तुत की। यह व्याख्या भी शैव दर्शन की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित है। परात्रिंशिका में उन्होंने सहृदयता का स्वरूप बताते हुए कहा है—'वीर्यविक्षोभात्मा हि सहृदयता'—सहृदयता वीर्यविक्षोभात्मक होती है। वीर्यविक्षोभ का आशय यहाँ निपट शारीरिक स्तर पर नहीं लिया जाना चाहिए। वीर्यविक्षोभ स्पन्दनरूप होता है। सामान्य जगत् में भौतिक स्तर पर वीर्यक्षोभ चित्त की चंचलता की दशा में होता है, अभिनव कहते हैं कि काव्य या कला के अनुभव में वीर्यविक्षोभ चित्त के संयम या समाधि की स्थिति में होता है। अभिनव सहृदय के हृदय को प्रकाशविमर्शमय भी मानते हैं। डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने अभिनवसम्मत सहृदय का स्वरूप बताते हुए उसके विमर्शात्मक हृदयसहित तथा उत्कृष्टहृदयसहित ये दो वैकल्पिक अर्थ माने हैं। सहृदय के अनुभव में उत्कर्ष प्रमाता की विशेषता, प्रमेय की विशेषता तथा चित्त की विशेषता के कारण आता है। (*भारतीय काव्यशास्त्र के नए क्षितिज,* पृ. ३२)। कलानुभव की तीन अवस्थाएँ होती हैं—वर्णनीयतन्मयीभवन, तादात्म्यसमापत्ति तथा स्वहृदयसंवादभाजकता।

साधारणीकरण की बात भट्टनायक भी कर चुके थे, पर अभिनवगुप्त ने उसे अनन्त और असीम के अनुभव की दृष्टि से नई व्याख्या दी। भट्टनायक की सीमा को पहचान कर ही वे कहते हैं—न परिमितमेव साधारण्यम्, अपितु विततम् (नाशा. ६/३१ के बाद के गद्यभाग पर अभिनवभारती, भाग-१, पृ. २७९)

यह असीम तो सीमित के भीतर सदैव रहता ही है। चेतना का परदा इसे ढाँपे रहता है। विभाव आदि इस परदे या विघ्न को हटाने का काम करते हैं। (तत्र विघ्नापसारका विभावप्रभृतयः) ये विघ्न निम्नलिखित हैं—

(१) सम्भावनाविरह—सम्भावना से आशय भावना शक्ति है। भावना रचनाकार और सहृदय दोनों में अपेक्षित हैं। उसके बिना कलानुभूत की सामग्री का प्रत्यय नहीं हो सकेगा।

(२) देशकालविशेषावेश—यह विघ्न काव्य के पाठक या नाटक के दर्शक से सम्बद्ध है। पाठक या भावक अपने देश-काल से आविष्ट रहता है या अन्य देश काल से आविष्ट रहता है, दोनों ही स्थितियों में कलानुभूति नहीं हो सकती, क्योंकि अभिनव के अनुसार उभयदेशकालत्याग रसास्वाद की शर्त है।

(३) निजसुखादिविवशीभाव—अपने ही व्यक्तिगत सुख-दुःख में डूबा रहता है, तो कविता या नाटक के भावलोक से वह जुड़ नहीं सकता।

(४) प्रतीत्युपायवैकल्य—रसानुभूति की सामग्री—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि समग्र न हों।

(५) स्फुटत्वाभाव—रसानुभूति की सामग्री विभाग, अनुभाव, संचारी भाव आदि स्फुट या स्पष्ट न हों।

(६) अप्रधानता—विभावादि में जिसकी प्रधानता होनी चाहिए, उसकी प्रधानता न हो।

(७) संशययोग—रसानुभूति की सामग्री को लेकर भावक संशयग्रस्त हो जाए।

वीतविघ्न या निर्विघ्न रसप्रतीति में प्रमाता (अनुभवकर्ता) का परिमित या सीमित प्रमातृत्व टूट जाता है। वह एक अपरिमित भाव में प्रतिष्ठित होता है। व्यक्तित्व अनन्त हो जाता है। इस असीम होने में उसके अपने चैतन्य का लोप नहीं होता, विस्तार होता है। अतः रसास्वाद आत्मविस्मृति नहीं, क्षण भर का बहलाव या भुलावा नहीं। इसमें आत्मा न अत्यन्त तिरस्कृत होता है, न विशेषतः उल्लिखित—नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखितः (वही)।

भरतमुनि ने रस की व्याख्या में विभिन्न प्रकार के मसालों से बघारे व्यंजन का दृष्टांत दिया था। शैव दर्शन में इसी दृष्टांत को स्वीकार करते हुए कलादर्श रचा गया है। विज्ञानभैरव में कहा गया है—'जब किसी को तेज भूख लगती है और वह अन्न खाता है या किसी को तेज प्यास लगती है और वह पानी पीता है, तो उल्लास, रस और आनन्द की स्थिति निर्मित होती है। इस उल्लास, रस और आनन्द की स्थिति की भावना करने पर योगी को परम आनन्द का अनुभव होता है। इसी तरह संसार में अन्य विषय—शब्द, स्पर्श, रूप आदि का भी इन्द्रियों से ग्रहण होने पर आस्वाद में डूबे योगी का मन तन्मय होकर इन पर टिक जाता है। वह अपने स्वरूप से एकात्म होकर महानन्द को प्राप्त करता है। मधुर आदि के श्रवण से चित्त में आनन्द की तरंग उठती है। इसे आनन्द शक्ति कहा गया है।

शिवसूत्र में कहा गया है—आत्मा नर्तक है, जीवात्मा रंगमंच है और इन्द्रियाँ इसका आस्वादन लेने वाली प्रेक्षक हैं। वास्तव में योगी संसार के नाटक को अपने भीतर देखता है और उसका साक्षात्कार करता है। यह साक्षात्कार प्रमोदनिर्भर या आनन्द से आप्लावित होता है। इसमें चमत्कार और रस की सम्पूर्णता होती है। संसार के विषयों के आस्वादन और काव्य के आस्वादन में अन्तर यह है कि संसार के विषयों के आस्वादन में विषयों का व्यवधान होता है। चेतना और आस्वाद के बीच सांसारिक विषय रहता है। काव्य के आस्वाद में यह विषयव्यवधान नहीं होता।

मधुरादिरसास्वादे तद् विषयस्पर्शव्यवधानम्। ततोऽपि काव्य-नाट्यादौ तद्व्यवधानशून्यता तद्व्यवधानसंस्कारानुवेधस्तु। तत्रापि तु

तथोदितव्यवधानांशतिरस्क्रियासावधानहृदया लभन्त एव परमानन्दम्। यथोक्तम् यद्धिपानकृतोल्लासरसानन्दव्यवस्थितेः (वि.भै. ७२)।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, पृ. १७९

पर संसार के विषयों में ही तटस्थता या माध्यस्थ्य जब छूट जाती है, तो एकतानता आ जाती है।

योगिनश्चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि हि संसारनाट्यप्रकटनप्रमोदनिर्भरं स्वरूपम् अन्तर्मुखतया साक्षात्कुर्वन्ति, तत्प्रयोगरूढ्या विगलितविभागा चमत्काररससम्पूर्णतामापादयन्ति। (शिवसूत्रविमर्शिनी, *का.सं.ग्र.,* पृ. ४४)

(६)

अभिनवगुप्त ने रसविषयक समग्र चिन्तन, वाद-विवाद और मत-मतान्तरों को भी समेटा। मुख्य मत थे—लोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद, शंकुक का अनुमितिवाद तथा भट्टनायक का भुक्तिवाद। तीनों के ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। अभिनव को इन तीनों की रचनाएँ प्राप्त थीं। तीनों के अवदान को वे स्वीकार करते हैं।

लोल्लट के मत को उत्पत्तिवाद या आरोपवाद कहा जाता है, क्योंकि वे स्थायी भाव की विभावों से उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह स्थायी भाव अनुकार्य (नाटक के पात्र) में उत्पन्न होता है। अनुभावों से यह प्रतीति के योग्य बनता है और संचारी भावों से पुष्ट होता है। इस तरह उत्पत्ति, प्रतीति और उपचिति इन तीन दशाओं से गुजरने पर स्थायी भाव नट में भी झलकने लगता है। नट में यह इसलिए झलक उठता है कि वह नाटक के पात्र (अनुकार्य) के साथ तद्रूपता का अनुसंधान करता है। पात्र के रूप में दिखाई पड़ने के लिए नट के द्वारा किए जाने वाले रचनात्मक व्यापार को लोल्लट ने अनुसंधान कहा है। इस अनुसंधान की प्रक्रिया वास्तव में दुतरफा होती है, नट ही अनुसंधान नहीं करता, प्रेक्षक या नाटक का दर्शक भी अनुसंधान करता है, नट या अभिनेता में नाटक के पात्र को देखने के लिए प्रेक्षक के भीतर एक अलग रचना-प्रक्रिया चलती है। अभिनव और मम्मट ने लोल्लट की दृष्टि से इसे आरोप कहा है। अनुसंधान की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने कहा है कि एकीभावरूप होना अनुसंधान है। उत्पत्ति, प्रतीति, उपचिति, आरोप और अनुसंधान—ये चार लोल्लट के प्रतिपादन में बीज शब्द हैं। उनकी व्याख्या का सार यह निकलता है कि स्थायीभाव वास्तव में तो उसी पात्र में रहेगा जिसने संसार में सचमुच उसका अनुभव किया है। राम के मन में ही रावण के लिए क्रोध या रावण से साथ युद्ध करने का उत्साह हो सकता है। नट में आरोप के कारण प्रेक्षक स्थायी भाव की प्रतीति करने लगता है। अर्थात् वास्तव में तो नट नाटक के भावों से सुखी या दुखी नहीं होता, दुष्यन्त का

अभिनय करते समय वह सचमुच में शकुन्तला से प्रेम नहीं करता। दर्शक उसमें दुष्यन्तत्व का और शकुन्तलाविषयक रति का आरोप कर लेता है। यह आरोप भ्रममूलक होता है। इस तरह लोल्लट के मत में रसास्वाद ही भ्रमात्मक अनुभव सिद्ध होता है। उनके बाद के व्याख्याकारों ने उनकी इसके लिए खूब खबर भी ली है। भ्रम से सच्चा आनन्द कैसे किसी को मिल सकता है?

वास्तव में तो भौतिक जगत् की अपेक्षा से लोल्लट के मत में रसास्वाद को भ्रम कहा जा सकता है, अपने स्तर पर वह एक बृहत्तर यथार्थ है। बृहत्तर यथार्थ इसलिए कि इस भ्रम के पीछे प्रेक्षक या नट की कोई विवशता नहीं, अनजाने में उन्हें (अँधेरे में पड़ी रस्सी में साँप या दोपहर में रेतीले तट पर चमकती सीपी में चाँदी के भ्रम की तरह) कोई भ्रम नहीं होता, इस भ्रम को तो वे जानबूझकर अपने आनन्द के लिए रचते हैं। कल्पना का साम्राज्य और सर्जना की स्वतन्त्रता इसमें रहती है। इस अर्थ में यह लोकोत्तर भ्रम है। एक अर्थ में इसे भ्रम कहा ही नहीं जाना चाहिए, क्योंकि यह बृहत्तर यथार्थ से प्रेक्षक को जोड़ता है। जे.बी. प्रीस्टले ने इसे 'विलिंग सस्पेंशन ऑफ डिसबिलीफ' (अविश्वास का स्वैच्छिक स्थगन) कहा है। यह स्वेच्छा ही सौन्दर्यानुभूति का मर्म है। यही उनका अनुसंधान है। अभिनवगुप्त भी खण्डन करने और अपने मत को स्थापित करने के लिए तो लोल्लट के भ्रमवाद का निराकरण करते हैं, पर उनका अनुसंधान व्यापार कितना खरा है—यह वे भी समझते हैं। स्वयं अपने मत में उन्होंने अनुसंधान के तत्त्व को स्वीकार किया भी है। लोल्लट के मत में स्थायी भाव ही पुष्ट होकर रस बनता है, अनेक प्राचीन आचार्यों ने यह स्वीकार किया। अभिनव कहते हैं—चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। यथा दण्डिना स्वकाव्यालङ्कार-लक्षणेऽभ्यधायि रतिः शृङ्गारतां गता। रूपबाहुल्ययोगेन। (*अभिनवभारती*, भाग-१, चतुर्थ सं. पृ. २६६)

लोल्लट प्रतिपादित अनुसंधान के तत्त्व को शंकुक ने अपनी दृष्टि से अनुकृति और अनुमिति—इन दो पक्षों के द्वारा प्रस्तुत किया। जिस तरह लोल्लट के मत को मात्र भ्रममूलक या आरोपमूलक कहना उचित नहीं, इसी तरह शंकुक के मत को केवल अनुमितिवाद कहना उचित नहीं।

जिस तरह लोल्लट में आरोप या अनुसंधान एक सर्जनात्मक प्रक्रिया है, जो सौन्दर्यानुभूति में पर्यवसित होती है, उसी तरह शंकुक में अनुकृति और अनुमिति ये दोनों सर्जनात्मक प्रक्रियाएँ हैं, एक नट या अभिनेता के द्वारा तो दूसरी प्रेक्षक के द्वारा सम्पन्न होती है। अनुकृति के द्वारा अभिनेता कविता के संसार को मंच पर फिर से रचता है। वह इस संसार का सर्जक होता है। प्रेक्षक इस संसार का अनुभव अनुमिति के द्वारा करता है। शंकुक स्पष्ट कहते हैं कि अनुमिति या अनुमान की

यह प्रक्रिया संसार में होने वाले अनुमान से भिन्न होती है। उनके यहाँ काव्यानुभूति या नाट्यानुभूति ही सारे सांसारिक अनुभव से विलक्षण है। नट में राम आदि पात्रों की प्रतीति चित्रतुरगन्याय से होती है। चित्र में बने अश्व के बारे में न तो यह रह सकते हैं कि यह सचमुच का घोड़ा है, न यह सह सकते हैं कि यह घोड़ा नहीं है; न संशय कर सकते हैं कि यह घोड़ा है या और कुछ; न यह कह सकते हैं कि यह घोड़े से मिलता-जुलता कोई प्राणी है; फिर भी उसमें घोड़े की प्रतीति हमें होती है। यही कलात्मक प्रतीति है जो सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य इन चारों प्रकार की सांसारिक प्रतीतियों से भिन्न है। यह एक सम्प्लवात्मक अनुभव है। शंकुक की ये कारिकाएँ अभिनव ने उद्धृत की हैं।

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमेवास्ति नासावेवायमित्यपि।
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥ (*वही,* पृ. २६७)

अभिनवगुप्त यह जानते हैं कि शंकुक चित्रतुरगन्याय के द्वारा सौन्दर्यानुभूति की जो व्याख्या करते हैं, वह अपनी जगह पर सही है। उन्होंने शंकुक के अनुकृतिवाद का खण्डन किया, पर किसी न किसी रूप में अनुमिति का तत्त्व कलाबोध में पिरोया होता है यह वे मान लेते हैं। मम्मट ने अभिनवगुप्त के मत का स्वारस्य बताते हुए कहा है कि रसास्वाद वही सहृदय कर सकता है, जिसे संसार में रह कर विभिन्न स्थायी भावों के अनुमान में अभ्यास और पटुता प्राप्त कर ली हो।

अन्ततः अभिनव लोल्लट का उपचितिवाद भी स्वीकार कर लेते हैं। भावों की अनुगामिता जो एकतानता में पर्यवसित होती है, उसकी दृष्टि से उपचय की स्थितियों में अनुकरण भी रसास्वाद को कहा जा सकता है (*वही,* वडोदरा सं., १९९२, भाग-१, पृ. २७४)।

भट्टनायक के अनुसार रस का स्वरूप आनन्द राजानक द्वारा काव्यप्रकाशनिदर्श नामक टीका में संगीतशिरोमणि ग्रंथ के हवाले से उद्धृत किया है। भट्टनायक कहते हैं—

उत्पत्त्यनुमितिज्ञप्तिरूपावस्थाकरः स्थितः।
सामाजिकानुकार्यानुकर्तृषु त्रिष्वपि स्फुरन्॥
भावः साधारणीभूतो यदाऽसौ भावनाबलात्।
साधारणैरुपायैश्च भाव्येत स्यात् तदा रसः॥

मम्मट ने भट्ट नायक के मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—ताटस्थ्य से रस की प्रतीति हो सकती है, न आत्मगत रूप से। अर्थात् नट को मूल पात्र से

तटस्थ है, उसमें रस की प्रतीति नहीं होगी, सहृदय प्रेक्षक के भीतर भी रस की प्रतीति कैसे होगी, क्योंकि वह देश, काल आदि की दृष्टि से मूल पात्र से अलग है। रस की उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती, न यह ही कहा जा सकता है कि रस अभिव्यक्त होता है। उत्पत्ति किसी नवीन वस्तु की होती है, जो पहले से विद्यमान न हो। इस तरह लोल्लट के उत्पत्तिवाद तथा ध्वनिवादियों के अभिव्यक्तिवाद दोनों को अस्वीकार करते हुए भट्टनायक ने रसानुभूति के निरूपण के लिए काव्य और नाट्य में दो अतिरिक्त व्यापार माने—भावकत्व और भोजकत्व या भोग। काव्य या नाटक में विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है।

अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया कि कलास्वाद की दशा में साधारणीकरण होता है। भट्टनायक से उनका विरोध केवल इस मन्तव्य पर था कि भावकत्व (साधारणीकरण) और भोजकत्व या भोग काव्य कला तथा नाट्य के व्यापार माने जाएँ। भट्टनायक की साधारणीकरण की अवधारणा को उन्होंने विस्तृत फलक पर आँका। भट्टनायक के साधारणीकरण की परिष्कार करते हुए उन्होंने कहा कि न परिमतमेव साधारण्यम् (वहीं, पृ. २७३), साधारणीकरण परिमित या सीमित नहीं होता। अपरिमित साधारणीकरण की जो व्याख्या अभिनवगुप्त ने की, वह कला के मर्म को उधाड़ कर रख देती है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने लोल्लट, शंकुक और भट्टनायक इन चारों आचार्यों की स्थापनाओं का परिष्कार करते हुए उनके ग्राह्य तत्त्वों को अपने व्याख्यान में समाविष्ट किया। जो बात इनसे छूट गई थी, उसे अभिनव ने विशद और विशेष बनाकर कहा। वह थी समस्त प्रमाताओं के चित्त में स्थायी भाव का संस्कार रूप में सदैव विद्यमान रहना। तभी उनका अभिव्यक्तिवाद बन पाता है। स्थायीभाव वासना के रूप में हर व्यक्ति के भीतर रहते ही हैं। विभावादि कारण सामग्री के सामने आने पर वे उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। अभिनव के अभिव्यक्तिवाद में यह उद्‌बोध व्यंजना की प्रक्रिया के द्वारा व्याख्यात किया गया है। स्थायी भाव वासना ये संस्कार के रूप में तो भीतर है ही, वह ढका हुआ है या पर्दे में है। आवरण हटते ही उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। अभिव्यक्त हुआ स्थायी भाव रस बन जाता है।

स्थायी भावों को अभिनवगुप्त ने मूल संवित् कहा है। ये जन्मजात संस्कार के रूप में हर एक के साथ रहते हैं—जात मात्र एव हि जन्तुः इयद्‌भिः संविद्‌भिः परीतो भवति (वही, पृ. २७६)। ये ही मूल संवित् है। इनमें हमारी पहचान है। इसमें प्रमाण यह है कि यदि कोई मनुष्य थका या उदास होता है तो प्रश्न किया जा सकता है कि आप क्यों थके या उदास है, पर यदि कोई उत्साह से सम्पन्न है, तो यह प्रश्न नहीं किया जाता कि आप उत्साह से युक्त क्यों हैं?

अभिनवगुप्त के मतानुयायी आचार्य मम्मट ने संक्षेप में बड़े सारगर्भित शब्दों में उनके रसविषयक व्याख्या को इस प्रकार स्पष्ट किया है—स्थायी भाव सहृदयों के चित्त में संस्कार रूप में रहते हैं। संसार में व्यावहारिक जगत् में जब वे सहृदय इन स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारियों को देखते हैं, तो संस्कार रूप में चित्त में दबे हुए ये स्थायी भाव उद्‌बुद्ध होते रहते हैं। इस तरह ये सहृदय अपने जीवन के विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न स्थायी भावों के अनुमान में अभ्यास और निपुणता प्राप्त कर लेते हैं। फिर स्थायी भावों के जिन कारणों, कार्यों और सहकारियों का अनुभव वे संसार में अपने जीवन में विभिन्न प्रसंगों में कर चुके हैं, उन्हीं कारण, कार्य और सहकारियों को काव्य या नाटक में विभावों, अनुभावों और व्यभिचारी भावों के रूप में देखते हैं। तब काव्य में उनका वर्णन पढ़ते हुए या सुनते हुए अथवा रंगमंच पर अभिनेता के द्वारा इनका प्रस्तुतीकरण देखते हुए सहृदय इनके साथ न तो किसी संबंध को स्वीकार कर पाते हैं, न अस्वीकार कर पाते हैं, वे न तो यह समझ सकते हैं कि ये विभाव आदि मेरे हैं, मेरे शत्रु के हैं या मेरे तटस्थ के हैं और न वे यह ही कह सकते हैं कि ये न मेरे हैं, न मेरे शक्षु के न मुझ सें तटस्थ के। सांसरिक संबंधों में काव्यजगत् या कलासंसार के संबंधों कान अँट पाने का अनुभव सहृदय समाज को अन्ततः असीम के धरातल पर पहुँचा देता है। तब वासना के रूप में उनके भीतर स्थित स्थायी भाव व्यक्त हो जाते हैं। ये स्थायी भाव अलग-अलग सहृदयों के चित्त में अलग-अलग ही व्यक्त होते हैं, पर यह असीम का अनुभव ऐसा होता है जो सबको एक में जोड़ देता है, यही साधारणीकरण है। इस साधारणीकरण में प्रत्येक प्रमाता या सहृदय का परिमितप्रमातृ-भाव अपने व्यक्तिविशेष होने का बोध) गल जाता है, अपरिमित भाव हर एक के भीतर जाग जाता है, तब सारे सहृदय एक अनुभव में डूब जाते हैं। यह अनुभव ऐसा होता है कि इसमें अनुभव, अनुभव करने वाला और अनुभव का विषय तथा अनुभव का प्रक्रिया सब एकमेक हो जाते हैं। केवल रस ही वहाँ हो जाता है, इसे सब उसी में विलीन हो जाता है। यह रस एक अनिर्वचनीय अनुभव होता है, इसे न कार्य कहा जा सकता है, न ज्ञाप्य। कार्य इसलिए नहीं कहा जा सकता कि विभाव आदि के न रहने पर इसका अनुभव भी नहीं रहता, जबकि कारण कार्य के नाश होने पर बना रह सकता है। ज्ञाप्य इसे इसलिए नहीं कहा जा सकता कि जो ज्ञाप्य वस्तु है, वह पहले से मौजूद होनी चाहिए, जबकि रस तो हर कला के अनुभव में नए सिरे से जन्म लेता है। वास्तव में यह रस विभाव आदि के द्वारा व्यंजित होने वाले चर्वणीय तत्त्व है। पर उसका आस्वाद उत्पन्न होता है और रस तथा रसास्वाद एक ही मान लिये गए हैं, अतः रस भी कार्य कहा जा सकता है, यह एक विशिष्ट अनुभव या प्रत्यय है, जो संसार के सारे अनुभवों से

विलक्षण है, योगियों के अनुभवों से भी यह विलक्षण है—इस दृष्टि से इसे ज्ञाप्य भी माना जा सकता है। अभिनवगुप्त रस की अलौकिकता को सिद्ध करने के लिए परस्पर विरोधी विशेषण उसके लिए उसी तरह स्वीकार करते हैं जिस तरह वेदान्त में ब्रह्म के लिए परस्पर विरोधी विशेषण प्रयुक्त होते हैं।

कुल मिलाकर अभिनव के व्याख्यान में सूक्ष्मता और परिष्कार की सारी प्रक्रिया अन्ततः सहृदय की चेतना पर विश्रान्त होती है। नाट्य का स्वरूप ही उनके यहाँ अध्यवसाय (बुद्धि में किए हुए निश्चयात्मक विमर्श) या अनुव्यवसाय (किसी वस्तु के ज्ञान से होने वाला तात्त्विक बोध कि मैंने अमुक वस्तु को इस रूप में जाना) बना कर प्रस्तुत किया गया। रस ही नाट्य है और नाट्य ही रस है। सारी कला चित्तवृत्तिस्वरूप है, क्योंकि अन्ततः सहृदय की चेतना में जिस रूप में वह गृहीत होती है, वही उसका सच्चा स्वरूप है। मूर्ति का दृष्टान्त देते हुए अभिनव कहते हैं कि सिन्दूर आदि से पोते गए वासुदेव को देखकर वासुदेव की भावना होती है, इसमें सिन्दूर से पुती मूर्ति सच्चा वासुदेव नहीं है, वह तो चित्त में वासुदेव की भावना जगाने का उपकरण मात्र है चित्त में उदित भावना में सच्चा वासुदेव है।

यह भावना साक्षात्काररूपिणी होती है। समस्त कलाबोध या सौन्दर्यानुभूति साक्षात्कारस्वरूप ही होती है। कालिदास के रम्याणिवीक्ष्य—इस श्लोक के माध्यम से कलानुभूति की व्याख्या करते हुए अभिनव कहते हैं कि यहाँ कवि ने जिस स्मृति की बात की है, वह तर्कशास्त्र में प्रसिद्ध स्मृति नहीं है, अपितु प्रतिभान जिसका दूसरा नाम है ऐसी साक्षात्काररूपिणी अनुभूति है।

यह साक्षात्कार चित्तवृत्ति में होता है अतः सारे रस चित्तवृत्तिरूप हैं। भरतमुनि ने श्रृंगार रस को उज्ज्वलवेषात्मक तथा उत्तमयुवप्रकृति कहा है। भौतिक स्तर पर इन विशेषणों का अर्थ होगा—चमकीले वेष वाला तथा युवक-युवतियों के बीच होने वाले संबंध पर जिसकी प्रकृति निर्मित होती है। अभिनव ने इन विशेषणों का चित्तवृत्तिपरक आशय खोलते हुए कहा है—'वेषयति व्यापयति चित्तवृत्तिमन्यत्र ज्ञापनतया सङ्क्रमयतीति वेषो विभावानुभावात्मा, वेषयन्ति व्याप्नुवन्ति स्थायिनमिति व्यभिचारिणः।' अर्थात् चित्तवृत्ति को व्याप्त करने के कारण वेष को वेष कहा जाता है, विभाव और अनुभाव वेष होते हैं। स्थायी भाव को वेष्टित करने के कारण व्यभिचारी भी वेष कहा जाता है। यहाँ उत्तमयुव शब्द के प्रयोग से युवा के भीतर रहने वाली चेतना से आशय लिया जाना चाहिए, काया से नहीं। परमार्थतया चैतन्य ही युवा या वृद्ध होता है।

कलासर्जना प्रक्रिया में अभिनवगुप्त उभयदेशकालत्याग को अनिवार्य मानते हैं। अर्थात् सर्जक और प्रमाता या सहृदय दोनों अपने देशकाल से भी

विस्थापित हो जाते हैं और रचना के देशकाल से भी। साधारणीकरण में देशविशेष कालविशेष से चेतना जुड़ी नहीं रह सकती।

अभिनव ने सहृदय को केन्द्र में रखा तथा सहृदय का लक्षण यह किया— 'येषां काव्यानुशीलनवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः' ध्वन्यालोक १।१। पर)—काव्य का अनुशीलन कर करके जिनके मन का मुकुर (दर्पण) निर्मल हो गया हो और यह निर्मल हो चुका यह मनोमुकुर काव्य की विषयवस्तु में तन्मय हो जाए—वे सहृदय कहे जा सकते हैं। यहाँ मनोमुकुर या मनरूपी दर्पण की बात अभिनव ने कही है। शैव दर्शन के आभासवाद के सिद्धांत की झलक यहाँ भी देखी जा सकती है। जिस प्रकार स्रष्टा की चेतना के दर्पण में विश्व आभासित हो उठता है, उसी प्रकार सहृदय के चित्तरूपी दर्पण में भी काव्यविश्व प्रतिबिम्बित होता है।

रसों की पारस्परिकता और सारे रसों की शान्त में परिणति इसी आधार पर अभिनवगुप्त प्रदर्शित कर सके। बीभत्स शान्त रस का माध्यम बनता है। बीभत्स रस उन्होंने दो प्रकार का बताया—क्षोभज और उद्वेगी। क्षोभज को अभिनव ने शुद्ध भी कहा। यह शुद्ध या क्षोभज बीभत्स रस संसार की विकृतियों पर पहले क्षोभ और फिर उनसे वितृष्णा या वैराग्य उत्पन्न करता है और अन्ततः मोक्ष का पथ प्रशस्त करता है। (संसारनाट्यनायकरागप्रतिपक्षतया मोक्षसाधनहेतुत्वाच्छुद्धः। —*अभिनवभारती,* भाग-१, दिल्ली सं., पृ. ३२६)। इसी तरह हास्य रस में प्रत्येक रस की विडम्बना प्रस्तुत की जाती है। जिस तरह बीभत्स में क्षोभ और उद्वेग होता है जो वैराग्य या निर्वेद की ओर ले जाता है, उसी प्रकार हास्य में भी दुःख का बोध छिपा रहता है। इस दुःखांश के अनुवेध के कारण बीभत्स की ही तरह हास्य भी शान्त में पर्यवसित होता है।

हासस्य सानुसन्धानस्य विद्युत्सदृशतात्कालिकाल्प-दुःखरूपसुखानुगतौ (दुःखांशानुवेधः) *अभिनवभारती,* भाग-१, पृ. ४३)

शान्त रस की स्थापना करते हुए उन्होंने कहा कि रसों की सारी व्यवस्था पुरुषार्थों पर टिकी हुई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों तक पहुँचाने वाली चित्तवृत्तियों का उदय रस में होता है। जब शृंगार में काम पुरुषार्थ, रौद्र में अर्थ पुरुषार्थ तथा वीर में धर्म पुरुषार्थ का साधन बनने वाली चित्तवृत्ति होती है, तो मोक्ष पुरुषार्थ का साधन बनने वाली चित्तवृत्ति (तत्त्वज्ञान) भी होना चाहिए, जो शान्त रस में परिणत हो।

(७)

एक ओर अभिनवगुप्त भरत के व्याख्याकार के रूप में रसविषयक सारे चिन्तन को आत्मसात् करके अपना प्रस्थान रचते हैं, तो दूसरी ओर आनन्दवर्धन

के व्याख्याकार के रूप में वे ध्वनि के तत्त्व का पुनर्विमर्श प्रस्तुत करते हैं। आनन्दवर्धन ने कहा था कि व्यंग्य के बोध में वाच्य की प्रतीति ओझल नहीं हो जाती। इसके लिए उन्होंने दीपक की लौ का दृष्टांत दिया। अँधेरे में रखी वस्तु को देखने के लिए हम दिया जलाते हैं। दीपशिखा उपाय है, जिस वस्तु को देखना चाहते हैं, हमारी दृष्टि उस पर रहती है। पह वह दिखेगी तभी तक जब तक दीपशिखा आलोक बिखेरेगी। इसलिए व्यंग्य के बोध के समय भी वाच्य निरन्तर अनिवार्यत: उपस्थित रहता है, उसका बोध मन की तहों में कहीं रहता है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के समय वाच्य अर्थ विभक्त रूप में भासित नहीं होता, पर उसका अनवभास हो जाए—वह भासित ही न हो ऐसा नहीं हो सकता (तेनात्र विभक्तया न भासते, न तु वाच्यस्य सर्वथैवानव-भास:— *ध्वन्यालोक,* १/११ पर लोचन, पृ. १०२)

इसलिए काव्य वाच्य, व्यंग्य से बनी हुई समग्र संरचना में है। यह बात अभिनवगुप्त के अनुसार आनन्दवर्धन ने ध्वनि के लक्षण में भी रेखांकित की है। ध्वन्यालोक १/१३ में आनन्दवर्धन ने शब्द और अर्थ दोनों को ध्वनि कहा है। अभिनवगुप्त कहते हैं कि यहाँ विकल्प का कथन (या तो शब्द या अर्थ) प्राधान्य की दृष्टि से है, अन्यथा शब्द और अर्थ दोनों सहचरित होकर ही काव्य में एक संरचना निर्मित करते हैं। (विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण) अत: काव्यविशेष कहने से आशय ही यह है कि गुणालंकार आदि से उपस्कृत शब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनि काव्य का आत्मा है, केवल व्यंग्य अर्थ काव्य का आत्मा नहीं। आनन्दवर्धन ने यहाँ ध्वनि का लक्षण किया है, वह मुख्य लक्षण है और यह लक्षण ध्वनि को समुदायरूपता को प्रतिष्ठित करता है।

आनन्दवर्धन ने काव्यात्मभूत सहृदयश्वलाघ्य अर्थ के दो प्रकार माने—वाच्य और प्रतीयमान। अभिनवगुप्त इस प्रतीयमान की व्याख्या करते हुए कहा कि यह दो प्रकार का होता है लौकिक और काव्यव्यापारैकगोचर। लौकिक अर्थ तो शब्दों के घेरे में आता है, उसके लिए शब्द दिया जा सकता है। जो केवल कविव्यापार में ही झलकता है, वह प्रतीयमान शब्दातीत है। कविव्यापारैकगोचर यह अर्थ रसरूप होता है। इसकी व्याख्या करते हुए ध्वन्यालोक १/४ की व्याख्या में अभिनव कहते हैं—

स च स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारनिपतित:, किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावरससमुचितप्राग्विनि-विष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रस:, स काव्यव्यापरैकगोचरो रसध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यात्मतया रस इति।

(रस स्वशब्दवाच्य नहीं होता, लोकव्यवहार के प्रपंच में उसे नहीं रखा जा सकता। काव्य के शब्द जब हृदय में उस अर्थ को आर्पित कर देते हैं, जो सुन्दर विभाव, अनुभाव आदि से रचा गया है, तो चित्त में पहले से विनिविष्ट रति आदि वासनात्मक स्थायी भाव जाग जाते हैं, सहृदय अपनी संवित् या चेतना में डूबकर आनन्द का अनुभव करने लगता है। इस तरह रसध्वनि कविता की प्रक्रिया का विषय बनता है, वही ध्वनि मुख्य रूप से काव्य की आत्मा है।)

ध्वन्यालोक १।५ में आनन्दवर्धन ने कहा है—'काव्यस्यात्मा स एवार्थः'। आनन्दवर्धन ने यहाँ प्रतीयमान का दृष्टांत देने के लिए वाल्मीकि का उदाहरण दिया था, वस्तु और अलंकाररूप ध्वनिप्रभेदों को काव्यात्मतत्त्व की परिधि से निकालने का उनका आशय नहीं था। पर अभिनव ने इसकी टीका करते हुए फिर रस को ही काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया—

स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रकान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च, तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्व-लङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्।

(यद्यपि काव्य में हर तरह के प्रतीमान या व्यंग्य अर्थ को द्योतित करने के लिए कवि प्रवृत्त होता है, पर इनमें से तृतीय रोटि का प्रतीयमान-रसध्वनि-ही काव्य की वास्तव में आत्मा है। ...वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि ये दोनों भी अन्ततः रस में ही पर्यवसित होते हैं, इसलिए वाच्य से उत्कृष्ट होने के कारण सामान्यतया उन्हें भी काव्य की आत्मा कहा गया है।)

कविता में स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति नाट्य प्रस्तुति में प्रयुक्त होने वाली दृश्यात्मकता का स्थान ले लेती है—२।४ पर ध्वन्यालोकलोचन में अभिनवगुप्त कहते हैं—काव्येऽपि लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेना-लौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता।

अभिनवगुप्त ने एक सर्वथा अभिनव व्याख्या चित्रकाव्य की दी है। विस्मय या कौतुक जगाता है, अतएव विचित्रता या कौतुकमय होने से चित्रकाव्य कहा गया। अथवा अन्य काव्य के अनुकरण के कारण चित्र कहा गया, क्योंकि चित्र या तस्वीर की रचना किसी के अनुसरण (नकल) के द्वारा ही होती है।

चित्रमिति। विस्मयकृद्वृत्त्यादिवशात्। न तु सहृदयाभिलषणीय-चमत्काररसारसनिःष्यन्दमयमित्यर्थः। काव्यानुकारित्वाद्वा चित्रम्, आलेखमात्राद्वा, कला-मात्राद्वा। (*ध्वन्यालोक*, १/१३ पर लोचन, पृ. १०६)

●

अध्याय-१०

भोज

भोज का समय ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। उनका अवसान कदाचित् ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ। वे प्रतापी सम्राट् थे। अनेक युद्धों में उनका जीवट प्रकट हुआ। राजा जयसिंह से १०११-१०२९ ई. के मध्य इनका युद्ध हुआ। जयसिंह के उत्तराधिकारी सोमेश्वर (१०४२-१०६६ ई.) से भी भोज ने संग्राम किया। उदयन, विक्रमादित्य जैसे नरेशों की तरह संस्कृत साहित्य की कथा परम्परा और लोककथाओं में भोज की अमिट छाप अंकित है। उदयन, विक्रमादित्य जैसे नरेशों की अपेक्षा भोज की प्रतिभा और मेधा अधिक उर्वर और बहुमुखी थी, इसलिए अनेक क्षेत्रों में अप्रतिम योगदान उन्होंने दिया। संस्कृत के अन्य किसी रचनाकार ने इतने विविध विषयों में ऐसा विपुल लेखन नहीं किया, जितना भोज के नाम से प्राप्त होता है।

भोज के पिता का नाम सिन्धुल अथवा सिन्धुराज था। पितामह सीयकदेव तथा चाचा वाक्पति थे। जयसिंह नाम से इनका पुत्र हुआ। भोज को अपनी वंशपरम्परा पर गर्व था। सरस्वतीकण्ठाभरण में नायकगुण के वर्णन में उन्होंने अपने ही पुरखे राजा परमार को श्रेष्ठ नायक का मानदंड बताते हुए कहा है—

वासिष्ठैः सुकृतोद्भवोद्भवशतैरस्त्यग्निकुण्डोद्भवो
भूपालः परमार इत्यधिपतिः सप्ताब्धिकालेर्भुवः।
अद्याप्यद्भुतहर्षगद्गदगिरो गायन्ति यस्योद्भटं
विश्वामित्रजयोर्जितस्य भुजयोर्विस्फूर्जितं गुर्जराः॥

(*सरस्वतीकण्ठाभरण,* पंचम परिच्छेद)

(सात समुद्रों से घिरी इस धरती पर वसिष्ठ जैसे ऋषियों के सैकड़ों सुकृतों के कारण अग्निकुण्ड से परमार राजा ने जन्म लिया। विश्वामित्र की विजय से ऊर्जित उस परमार राजा के उद्भट पराक्रम की गाथा आज भी आश्चर्य और हर्ष से गद्गद वाणी के साथ गुर्जर लोग गाते रहते हैं।)

शास्त्रपरम्परा में भोज का नाम परवर्ती शास्त्रकार लेते रहे। कन्दर्पचूडामणि के प्रणेता राजा वीरभद्र ने अपने आप को विविध शास्त्रों में भोज के समान प्रवीण बताया है। शाङ्र्गदेव ने सङ्गीतरत्नाकर में मतंग और कश्यप जैसे शास्त्रकारों के पूर्व भोज का नाम लिया है। आयुर्वेद के ग्रंथकार भी भोज का एक प्रामाणिक आचार्य के रूप में उल्लेख करते हैं।

काव्यशास्त्र पर सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगारप्रकाश, व्याकरण पर सरस्वतीकण्ठाभरण, शब्दानुशासन और भर्तृहरिकारिका; आयुर्वेद पर आयुर्वेद-सर्वस्व, राजमृगाङ्क, विश्रान्तविद्याविनोद; पशुचिकित्सा पर शालिहोत्र, ज्योतिष पर आदित्यप्रतापसिद्धांत, राजमार्तण्ड, राजमृगाङ्ककरण और विद्वज्जनवल्लभ-प्रश्नज्ञान; शैवदर्शन पर सिद्धांतसङ्ग्रह, तत्त्वप्रकाश और शिवतत्त्वरत्नमालिका; वास्तुविद्या पर समराङ्गणसूत्रधार और युक्तिकल्पतरु; धर्मशास्त्र तथा नीति पर चाणक्यनीति, चारुचर्या, व्यवहारसमुच्चय, विविधविद्याचतुरा और सिद्धांत-सारपद्धति; योग पर राजमार्तण्डयोगसूत्रवृत्ति; वेदान्त पर भी राजमार्तण्ड नामक ग्रंथ तथा विविध दर्शनों पर द्रव्यानुयोगतर्कणा की टीका; चम्पूरामायण, नाममालिकाकोश, विद्याविनोदकाव्य, सुभाषितप्रबंध, कूर्मशतक, पारिजातमञ्जरी, शृङ्गारमञ्जरीकथा, कोदण्ड आदि उनकी रचनाओं में परिगणित होते हैं।

भोज ने अपने अध्यवसाय, मेधा और तीक्ष्ण दृष्टि से विभिन्न शास्त्र परम्पराओं का पुनरुद्धार, पुनराविष्कार और पुनर्व्यवस्थापन किया। काव्यशास्त्र की तो अपने से पहले की दो हजार वर्ष की परम्परा के वे पुनर्व्यवस्थापनपरमाचार्य कहे जा सकते हैं।

अलंकार के स्वरूप के विवेचन में भोज दण्डी का अनुवर्तन करते हैं। पर दण्डी ने जो संकेत किए, उनके फलितार्थ भोज ने फैला कर प्रस्तुत कर दिए। दण्डी ने तो कहा ही था कि अन्य आगमों (नाट्यशास्त्र आदि) में जो सन्धि, सन्ध्यंग, लक्षण (काव्य के ३६ लक्षण) बतलाए गए हैं, वे हमारी दृष्टि से अलंकार ही हैं। भोज ने ध्रुवा, नान्दी, मङ्गलाचरण, शास्त्रकाव्य, काव्यशास्त्र इन सबको अलंकार के विशाल पेटे में समेट कर दण्डी के प्रस्थान को स्थापित किया।

भोज ने गुणों और अलंकारों के विभाजन तथा अवधारणा में सर्वथा नवीन उद्भावनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। गुण उनके अनुसार तीन प्रकार के हैं—बाह्य, आभ्यन्तर तथा वैशेषिक। बाह्य गुण शब्दाश्रित होते हैं, आभ्यन्तर गुण अर्थाश्रित तथा वैशेषिक गुण दोषों के गुणरूप में परिवर्तित होने से निर्मित होते हैं। इन तीनों कोटियों में २४-२४ गुणों को भोज ने व्यवस्थापित किया है। इनमें वामन के शब्दगुण और अर्थगुणों की भाँति चौबीस शब्दगुणों तथा चौबीस अर्थगुणों के नाम वे ही हैं, परिभाषाएँ भिन्न हैं। भरत और वामन से दस-दस नाम तो भोज ने इन गुणों के लिए ले लिये हैं, शेष चौदह के लिए उनकी अपनी परिकल्पना है। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, कान्ति, उदारता, उदात्तता, ओजस्, और्जित्य, प्रेयान्, सुशब्दता, समाधि, सौक्ष्म्य, गाम्भीर्य, विस्तार, संक्षेप, सम्मितत्व, भाविकत्व, गति, रीति, उक्ति और प्रौढि—ये चौबीस शब्द के और अर्थ गे गुण भोज द्वारा निरूपित हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति,

कान्ति, उदारता के लक्षण तो वामन के ही समान हैं। उदात्तता श्लाघ्य विशेषणों का योग है, समासभूयस्त्व ओजस् है, गाढबन्धता और्जित्य, चाटूक्ति प्रेयान् है, सुबन्त और तिङन्त की व्युत्पत्ति सुशब्दता है, अन्य के धर्मों का अन्यत्र आरोप समाधि है, यह आरोप लक्षणा वृत्ति पर आधारित होता है। शब्द भीतर से बोलते से लगें, तो उनका यह अन्त:संजल्प सौक्ष्म्य या सूक्ष्मता है। ध्वनिमत्ता या व्यंजना का सौन्दर्य गाम्भीर्य है, व्यासशैली का प्रयोग करने में विस्तार और समासशैली का प्रयोग करने में संक्षेप गुण होते हैं। अर्थ की अपेक्षा से तदनुरूप उतने ही पदों का प्रयोग सम्मितत्व है, भावानुसार वाक्यवृत्ति या वाक्य में पदों का प्रयोग भाविक है, पदों के आरोह और अवरोह का क्रम गति है, उपक्रम का निर्वाह रीति है, विशिष्ट कथन उक्ति है, उक्ति का प्रौढ परिपाक प्रौढि है। इस प्रकार भोज ने वामन के ओजस् के पाँच प्रकारों को अलग-अलग गुणों में समेट लिया है। अर्थगुणों में वामन ने घटना को श्लेष कहा है। भोज ने शब्दान्तर से इसे संविधान की सुसूत्रता बताया है। भूति का उत्कर्ष उनके यहाँ उदारता है। आशय का उत्कर्ष उदात्तता है। निश्चय या अध्यवसाय की अभिव्यक्ति में ओजस् है। रूढाहंकारता और्जित्य है। अर्थ की अभीष्टता प्रेयस् है। दारुण शब्दों के स्थान पर उन्हीं के लिए अदारुण पर्यायों का प्रयोग सुशब्दता है। बहाने या ब्याज का अवलम्बन समाधि है। सूक्ष्म अर्थ का कथन सौक्ष्म्य है। शास्त्रानुरूप उत्तम अभिव्यक्ति गाम्भीर्य है। अर्थ का विकास विस्तार और अर्थ का संवरण संक्षेप है। शब्द और अर्थ जहाँ बराबरी पर हों, वहाँ सम्मितत्व है। साभिप्राय उक्तिविन्यास भाविकत्व है। एक अर्थ से अन्य अर्थ का अवगमन होना गति है। वाक्य में वस्तुओं की उत्पत्ति आदि क्रियाओं का वर्णन रीति है, प्रकारान्तर से भंगी का आश्रय लेकर मनोहारी अर्थ को प्रकट करना उक्ति है। काव्य में विवक्षित अर्थ का निर्वाह प्रौढि है।

भोज का विशिष्ट योगदान दोषों के गुण में रूपान्तरित होने के विवेचन में है। उदाहरण के लिए क्लिष्ट (लुप्तैकदेश) तथा म्लेच्छित (अशिष्ट) शब्दों के प्रयोग में असाधु दोष होता है, पर इन्हीं शब्दों का प्रयोग किसी चरित्र की अनुकृति को प्रकट करने के लिए किया जाए तो गुण हो जाता है। इसी तरह अप्रयुक्तत्व, कष्टत्व, अनर्थक, अन्यार्थ, अपुष्टार्थ आदि दोष गुण बन जाते हैं। इससे कविता की संभावनाएँ खुलती हैं। मम्मट आदि आचार्य भोज के इस विवेचन के अत्यधिक ऋणी हैं।

देश्य और ग्राम्य की गुण में परिणति में भोज ने अपनी लोकदृष्टि का परिचय दिया है। उन्होंने ग्राम्य और देश्य इन दोषों की भी परिकल्पना की और कहाँ दोष दोष न रह कर गुण हो जाते हैं इस संभावना पर भी विचार किया। अरसिकता और कुरुचि का प्रदर्शन यदि ग्राम्यभाषा या देशभाषा के शब्दों को

लाने से होने लगे तो ये ग्राम्य और देश्य दोष के जनक हो जाते हैं। देश्य दोष का उदाहरण भोज ने यह दिया है—

गल्लौ लावण्यतल्लौ ते लडहौ मडहौ भुजौ।
नेत्रे वौसट्टकन्दोट्टमोट्यायितसखे सखि॥

यहाँ गल्ल, तल्ल, लडह, मडह आदि बोलचाल के शब्द शृंगार के सुरुचिपूर्ण अनुभव में बाधक होने से देश्य दोष के जनक हो जाते हैं। पर महाकवि की रचना में देशज भाषा की छटा अपना अलग ठाठ उत्पन्न कर सकती है, जिसके लिए भोज ने भवभूति के 'पातालप्रतिमल्लगल्लविवर-प्रक्षिप्तसप्तावर्णम्' या 'किरन्तः कावेरीलडहलहरीशीकरकणान्' जैसे उदाहरण दिए हैं।

ग्राम्य दोष किन परिस्थितियों में गुण बन जाता है, इस पर विचार करते हुए भोज ने एक रोचक प्रसंग और उससे निकला पद्य उद्धृत किया है, जिसमें कोई निपट ग्रामीण नगर में राजा को सामने देखकर किसी नागरिक से उसके विषय में प्रश्न कर बैठता है। इस संवाद में गाँव के आदमी की बोली का अटपटापन और सुसंस्कृत नागर की उपनागरिका का बाँकापन दोनों एक साथ आ जाएँ, तो दोष नहीं समझना चाहिए।

हातो जो ज्जलगेउ नैव मदनः साक्षादयं भूतले
तत्किं दीसइ सच्चमाहतवपुः कामः किल श्रूयते।
एदूए किअलेउ भूतपतिना गौरीविवाहोत्सवे
एसें सच्चुजिवोल्लुहस्तकटकः किं दर्पणेनेक्ष्यते॥

(*सकमृ.*, पृ. १११)

भोज का अशस्तार्थ ग्राम्य दोष भी लोकमान्यताओं पर आधारित काव्य शास्त्र की पीठिका प्रस्तुत करता है। लोक में जिस पद या वस्तु की अभिव्यक्ति अप्रशस्य मानी गई हो, उसे कविता में लाना भी अप्रशस्य है। उसका उदाहरण भोज ने यह दिया है—

खेटके भक्तसूपस्य वल्लभ्याः पत्तनस्य च।
अतृप्तोऽहं मरिष्यामि हे हले भाषितस्य च॥

गाँव के भात और वलभी नगर (या नगर की वलभी अथवा छत) तथा नारी के मुख से निकले हे हले इस सम्बोधन को सुने बिना अतृप्त ही मैं मर जाऊँगा। इसमें मर जाऊँगा यह कहते ही लोक का संस्कार आड़े आ जाता है, मरने की बात सोचना ही नहीं चाहिए। अलंकार भोज के अनुसार तीन प्रकार के हैं—बाह्य, आभ्यन्तर था बाह्याभ्तर। तीनों के चौबीस-चौबीस भेद उन्होंने निरूपित किए हैं। भोज ने २४ शब्दालंकार बतलाए हैं—

जातिर्गती रीतिवृत्तिच्छायामुद्रोक्तियुक्तय:।
भणितिर्गुम्फना शय्या पठितिर्यमकानि च।
श्लेषानुप्रासचित्राणि वाकोवाक्यं प्रहेलिका।
गूढप्रश्नोत्तराध्येयश्रव्यप्रेक्ष्याभिनीतय:।

इनको उन्होंने शब्दालंकार जातियाँ कहा है। जाति का संबंध भाषा से है।

गति, रीति और वृत्ति के अंतर्गत उन्होंने गद्य और पद्य के गुम्भन की विभिन्न शैलियों पर विचार किया है। गति के छह भेद हैं—द्रुता, विलम्बिता, मध्या, द्रुतविलम्बिता, द्रुतमध्या तथा मध्यविलम्बिता। चाहे गद्य हो या पद्य लय तो हर रचना में होनी ही चाहिए। रीति को भी भोज ने शब्दालंकार ही माना है। इसके अंतर्गत उन्होंने छह रीतियों का विवेचन किया है—वैदर्भी, पांचाली, गौडी, आवन्तिका, लाटीया और मागधी। मध्यम आरभटी और मध्यमा कैशिकी ये दो वृत्तियाँ और जोड़कर भरतप्रोक्त वृत्तियों की संख्या भी उन्होंने छह कर दी है। इसी तरह उनका युक्ति अलंकार है, जो पदसन्निवेश से ले कर प्रबंध तक परिव्याप्त है। उक्तिप्रकार भणिति है। इसके छह प्रकारों में संवृति भणिति और कल्पना भणिति भी परिगणित हैं।

कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् में नायिका उर्वशी की प्रशंसा में नायक पुरूरवा के मुख से कहलवाया है—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधे: प्रसाधनविशेष:।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्या:॥

(उसका रूप आभूषणों का भी आभूषण है, सजावट की रीति की भी सजावट है और उपमान के लिए प्रत्युपमान है)

यह संवृतिभणिति का उदाहरण है, क्योंकि अन्य आभरणों और प्रसाधन विधियों के विवरण को प्रिया की प्रत्युपमानता का कथन रोक देता है।

दृश्यं दृशां सहस्रेण मनसामयुता विभावनीयं च।
सुकृतकोटिभोग्यं किमपि वय: सुभ्रुव: स्वदते॥

उस सुन्दर भौंहों वाली की अवस्था हजारों नयनों से ताकने के योग्य है, लाखों मनों से सोचने के योग्य है तथा करोड़ों पुण्यों के होने पर भोगने के योग्य है।

यह कल्पनाभणिति का उदाहरण है।

वाक्य में शब्द और अर्थ की समग्र रचना गुम्फना है। यह शब्द, अर्थ, क्रम, पर्याय, पद और वाक्य इन छह आधारों से बनता है। पदार्थों की परस्पर घटना शैया है। पठिति अलंकार में पाठ का वैशिष्ट्य विरूपित है।

अर्थालंकारों में भोज ने सबसे पहले जाति अलंकार का विवेचन किया है। शब्दालंकारों में भी उन्होंने जाति अलंकार को ही सबसे पहले रखा है।

शब्दालंकार और अर्थालंकार जाति दोनों की अवधारणा बहुत भिन्न है। अर्थालंकार जाति में वस्तु के जायमान नाना रूपों का चित्रण होता है, इस दृष्टि से यह अर्थव्यक्ति जैसे गुण से भिन्न है, क्योंकि अर्थव्यक्ति तो सार्वकालिक रूप को खोलती है, यह देशविशिष्ट कालविशिष्ट परिवर्तनशील रूप को। इसी आधार पर भोज ने जाति अलंकार के अनेक भेद भी किए हैं और अपने समय की या अपने से कुछ पहले की संस्कृत और प्राकृत में रची गई उस कविता का इसके द्वारा आकलन भी किया है, जो जनजीवन और देश के विभिन्न अंचलों की अंतरंग झाँकी प्रस्तुत करती है।

अर्भकाश्रिता जाति के उदाहरण में भोज ने यह पद्य उद्धृत किया है।

आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डलं रुदन्।
गाः कालयति दण्डेन डिम्भः शस्यावतारिणीः॥

यह पद्य भामह भी स्वभावोक्ति अलंकार पर चर्चा करते हुए उसके उदाहरण में उद्धृत कर चुके थे। इस प्रकार भामह और विशेषतः दण्डी तथा भोज के बीच अलंकार विषयक विवेचन में एक अन्विति देखी जा सकती है।

नीचाश्रया जाति के उदाहरण में उन्होंने हलवाहे और बटोही के संवाद का निरूपण करने वाली योगेश्वर की रम्य रचना उद्धृत की है—

भद्रं ते सदृशं यदध्वगशतैः कीर्तिस्तवोद्गीयते
स्थाने रूपमनुत्तमं सुकृतिना दानेन कर्णो जितः।
इत्यालोच्य चिरं दृशा कृपणया दूरागतेन स्तुतः
पान्थेनैकपलालमुष्टिरुचिना गर्वायते हालिकः।

(एक मुट्ठी पुआल के लालची बटोही के द्वारा हलवाले की इस तरह स्तुति की जा रही है—भैया, यह तो उचित ही है कि सौ-सौ बटोही तुम्हारा गुणगान करें, क्या तुम्हारा रूप है, अपने दान-पुण्यों से तुमने कर्ण को जीत लिया है। इस तरह दूर से आया बटोही बड़ी देर तक दीन दृष्टि से ताकता हुआ हलवाले की स्तुति कर रहा है और हलवाला गर्व में फूल कर कुप्पा हो रहा है।)

इसी तरह व्यापाराश्रया जाति सैनिकों के एक दूसरे को पुकारने का वर्णन या देशहेतुकजाति में भोज विन्ध्याचल के विस्तार का वर्णन उद्धृत करते हैं, तो कालहेतुक जाति में भट्ट लक्ष्मीधर का हेमन्त ऋतु के वर्णन का यह अत्यन्त मार्मित पद्य—

कम्पन्ते कपयो भृशं जडकृशं गोजाविकं ग्लायति
श्वा चुल्लीकुहरोदरं क्षणमपि क्षिप्तोऽपि नैवोज्झति।
शीतार्तिव्यसनातुरः पुनरयं दीनो जनः कूर्मवत्
स्वान्यङ्गानि शरीर एव हि निजे निह्नोतुमाकाङ्क्षति॥

(बन्दर बुरी तरह काँप रहे हैं, गायें और बकरियाँ अकड़ कर दुबलाती हुई छीज रही हैं, रात भर भट्टी की गर्म भभूदल में सोया कुत्ता सबेरे दुत्कार कर भगाया जाने पर भी एक क्षण को बाहर नहीं निकल रहा, शीत की विपत् ने लोगों को ऐसा आतुर बना दिया है कि वे कछुए की तरह अपने अंगों को अपने ही देह में सिकोड़ कर छिपा लेना चाहते हैं।)

एक अर्थ में भोज काव्य के समाजशास्त्र की सुदृढ़ भूमिका बनाते हैं। विभिन्न सामाजिक उत्सव, तीज-त्यौहार और नागरिकों की क्रीडाएँ कविता में वर्णित होकर किस प्रकार काव्यानुभव को सम्पन्न बनाती हैं, इसका विस्तार से विवेचन उन्होंने किया है। कविता का सामाजिक पृष्ठभूमि में भोज विशेष रूप से गाँवों के उत्सवधर्मी परिवेश की चर्चा की है। इसी प्रकार विस्तृत है उनका नायिका विवेचन। नायिकाभेद के निरूप में भोज ने संस्कृत पद्यों अतिरिक्त २५० से अधिक प्राकृत की गाथाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें वे गाँव की स्त्रियों, निम्न वर्ग की नारियों को नायिका के रूप में कविता में स्थापित कर रहे हैं। मध्यमोढा का उदाहरण—

घरिणीए महाणसकम्मलग्गमसिमलिनिएण हत्तेण।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा॥

रसोई पकाते समय
कालिख लग गई है घरवाली के मुँह पर
पति ठिठोली कर रहा है
कि अब सच में ही उसका मुख हो गया है
चन्द्रमा के समान।

झंझावाओत्तिणिअ घरविवरपलोट्ठसलिलधाराहिं।
कुड्डलिहिओहिदिअहं रक्खइ मुध्धा करअलेंहिं॥

उठी है झंझा,
छेदों से पानी की धाराएँ बह उठी हैं,
भोली विरहिणी
हथेली से ढक कर बचा रही है
दीवार पर लिखी प्रिय के आने की अवधि गणना की इबारत।
यह मध्यमा धीरमुग्धा का उदाहरण है।

सुहउच्छिआइसुहओ मुहपंकजसुरभिपवणणिववविअं।
तह पिवइ वअलकटुअंपि ओसढं जह ण णिट्ठइ॥

प्रिय बीमार पड़ा है,
नींद अच्छी आई या नहीं यह पूछने के लिए वह भोर में प्रिय के घर आई है,
प्रिया के मुखपंकज से सुरभित

कड़वी ओषधि को भी मीठी मानकर पी रहा है प्रिय।

यह परकीया उत्तमा का उदाहरण है।

फलहीवाउअ पुण्णाहमंगलं लंगले कुणंतीए।
वहुआए मणोरहगब्भिणीए हत्था थरथरंति॥

खेत की पहली जुताई के समय
हल की पूजा कर रही है
मनोरथगर्भिणी
और हाथ थरथर काँप रहे हैं उसके।

यह मध्यमा अधीरोढा का उदाहरण है।

तर्क कविता में उतर कर कितना मनोहर हो जाता है, यह भोज के हेतु, सूक्ष्म जैसे तर्काधारित अलंकारों या प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव जैसे प्रमाण पर आधारित अलंकारों के विवेचन से सामने आता है। वितर्क अलंकार भोज ने अपने तर्कों से जिस तरह स्थापित किया है, वह उनकी काव्य विवेचन में प्रत्यग्र प्रज्ञा का परिचायक है। कविता की भाषा में वितर्क और ऊह ढल जाते हैं, तो अपना विलक्षण सौन्दर्य झलकाते हैं। वितर्क में कविता सन्देह और निर्णय के बीच झूलती है (सरस्वती-कण्ठाभरण, ३।३९) वितर्क के निर्णयान्त और अनिर्णयान्त इन दो प्रकारों के पहले के तत्त्वानुपाती, अतत्त्वानुपाती और उभयात्मक तथा दूसरे के मिथ्या, अमिथ्या और उभयात्मक ये तीन-तीन भेद होते हैं। इनके उदाहरणों में भोज ने तत्त्वानुपाती, उभयात्मक और अनिर्णयान्त मिथ्यारूप के उदाहरण कालिदास से दिए हैं।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥

यह उदाहरण निर्णयान्त अतत्त्वानुपाती वितर्क का है।

प्रमाणों पर आधारित अलंकारों में प्रत्यक्ष का विवेचन इसलिए महत्वपूर्ण है कि वह साक्षात्कारकल्प अनुभव और बिम्बविधान के सकल वैशिष्ट्य को समाहित करता है। प्रत्यक्ष का उदाहरण भोज ने यह दिया है—

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रसम्भेद्ये।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्तामुखं व्यक्तम्॥

राजशेखर ने भी यह पद्य उद्धृत किया है।

अर्थालंकारों में अनेक नए अलंकारों की उद्भावना भोज ने की है। इनमें संभव अलंकार संभावना पर आधारित होता है। यही स्थिति व्यत्यय अलंकार की

है। व्यत्यय में जीवन की विडम्बनाएँ खुलती हैं। परिवृत्ति या परिवर्तन इसका लक्षण है। जीवन की विषम विचित्र गति का और जगत् की गतिशीलता का चित्रण इस अलंकार में किया जाता है। माघ का यह पद्य भोज ने व्यत्यय के उदाहरण में दिया है—

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्बोजषण्डं
त्यजतिमुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिविलसितानां ही विचित्रो विपाकः।

उभयालंकारों में उपमादि साधर्म्यमूलक तथा श्लेष, अतिशयोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अन्य अलंकारों का विवेचन भोज ने क्या है।

कविता के शिल्प पर ही नहीं उसकी विषय वस्तु की भव्यता और उदात्तता पर सर्वाधिक विचार भामह, दण्डी, वामन और भोज जैसे आचार्यों ने किया।

राजशेखर और भोज दोनों के सामने योगेश्वर तथा उनके साथियों का काव्य था। यह काव्य भारतीय लोकजीवन की रसगन्ध में बसा हुआ और सामान्यजनों के संघर्ष तथा सुख-दुख की कथा रचता आ रहा था। भोज में दोष, गुण, अलंकार, उक्ति रस आदि की परिकल्पनाएँ इस कविता की प्राणवत्ता से प्रभावित हुई हैं।

●

अध्याय-११

पंडितराज जगन्नाथ

बारहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक का काल भारतीय मेधा और चिन्तन की परम परिपक्वता का काल है। व्याख्याओं और टीकाओं का सातत्य ही नहीं उनके माध्यम से नवीन के संधान का उपक्रम भी इस काल में जैसा बना रहा वह आज भी अप्रतिम ही है। बारहवीं शताब्दी में न्याय दर्शन में एक अलग प्रस्थान उठ खड़ा हुआ—नव्यन्याय। नव्यन्याय ने दर्शन की एक ऐसी भाषा ईजाद की, जिसने सारे शास्त्रों में तत्त्वान्वेषण की शैली को रूपांतरित कर दिया। उसके साथ ही नव्यव्याकरण और नव्यवेदांत के प्रस्थान भी बने। पाणिनि को पढ़ने की पद्धति आमूलचल परिवर्तित हो गई।

शास्त्रों के पुनर्व्यवस्थापन का क्रम एक परिणति पर पहुँच चुका था, जब सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में काव्यशास्त्र के धुरंधर आचार्य और सुकवि पंडितराज जगन्नाथ का अवतरण हुआ। पंडितराज जगन्नाथ पंडितों के घराने में उत्पन्न हुए। उन्हें बचपन से ही वादविवाद और तर्कवितर्क का वातावरण मिला, पंडितों का भरपूर साहचर्य भी उन्होंने पाया। उनके कुछ ही पहले या उनके समय के आस-पास अप्पय दीक्षित, खण्डदेव मिश्र, जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य, भट्टोजी दीक्षित, नीलकण्ठ दीक्षित, राजचूडामणि दीक्षित, वेंकटाध्वरिन् जैसे दिग्गज पंडित विचारक और ज्ञानी जन हुए। मधुसूदन सरस्वती ने पूरी वैष्णव परम्परा को नई गति दी, हिन्दी में भक्ति सम्प्रदाय को दार्शनिक आधार उन्होंने अपने चिन्तन और व्याख्यान के द्वारा प्रदान किया। वल्लभ के वेदान्त ने भक्ति की भावधारा में देश को सराबोर कर दिया। तुलसीदास जैसे सन्त कवि पंडितराज के कुछ पहले हो चुके थे, बिहारी जैसे रीतिकालीन कवियों के समय आ चुका था।

इस सारी पृष्ठभूमि में पंडितराज जगन्नाथ का अवतरण एक चमत्कार की तरह होता है। यह माना जाता है कि वे संस्कृत की परिष्कृत अभिजात परम्परा के अन्तिम महान् आचार्य भी हैं और अन्तिम कवि भी। हालाँकि यह सत्य नहीं है।

पंडितराज जगन्नाथ आन्ध्रप्रदेश के वेगिनाडु या वेगिनाड के तैलंग ब्राह्मण थे। उनके पिता पेरुभट्ट या पेरम भट्ट थे। अपने ग्रंथ रसगंगाधर के आरम्भ में पंडितराज जगन्नाथ ने अपने गुरुओं की नामावली दी है, उसमें सर्वोपरि वे अपने

पिता को ही बताते हैं। इन्हीं गुरुओं में शेष वीरेश्वर का नाम भी है, जिन्हें संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास में अमिट योगदान के लिए आज भी स्मरण किया जाता है।

ज्ञान की धरोहर पंडितराज को मिली थी। पता नहीं कितनी पोथियाँ उन्होंने रसगंगाधर के प्रणयन की तैयारी में छानी होगीं। विदग्धता और रसिकता का तो पुटपाक उनके व्यक्तित्व में था ही। संगीत का उनको अच्छा अभ्यास था। उनकी कविता में संगीत है। शान्तरस की स्थापना के प्रसंग में वे शाङ्गदेव के संगीतरत्नाकर को उद्धृ करते हैं।

बाणभट्ट और बिल्हण जैसे घुमक्कड़ कवियों और आचार्यों की तरह घुमन्तूपन पंडितराज जगन्नाथ के स्वभाव में था। अध्ययन के लिए वे काशी आए होंगे, फिर शास्त्रार्थ और राजसभाओं में स्थान पाने के लिए दक्षिण छोड़कर उत्तर में ही रमते रहे। वैसे भी राजा वेंकट के अवसान (१६१४ ई.) के साथ आन्ध्र प्रदेश में विजय नगर का महान् साम्राज्य टूट रहा था। पंडितराज जगन्नाथ अध्ययन समाप्त कर और अपना घर छोड़कर सबसे पहले तो जयपुर आए, वहाँ उन्होंने एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की। इस पाठशाला में उनकी शिष्य मंडली रही होगी। इनमें से एक थे—ब्रजभाषा के उस समय के प्रसिद्ध कवि माथुर चतुर्वेदी कुलपति मिश्र। एक और शिष्य नारायण भट्ट का उल्लेख बींसवी सदी के प्रख्यात संस्कृत साहित्यकार भट्ट मधुरानाथ शास्त्री की वंशपरम्परा में मिलता है। अपने रसगंगाधर की भूमिका में भट्टजी ने अपने कुलप्रबंध का यह श्लोक उद्धृत किया है—

लब्ध्वा विद्या निखिला: पण्डितराजाज्जगन्नाथात्।
नारायणस्तु दैवादल्पायुः स्वपुरीमगमयत्॥

नारायण के भतीजे हरिहर भट्ट ने भी पंडितराज को अपना गुरु बताया है। अस्तु, अपने जीवन काल में पंडितराज जगन्नाथ एक किंवदन्तीपुरुष बन गए थे। उनके विषय में अनेकानेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं, उनमें एक यह भी है कि जयपुर में ही उनका एक काज़ी के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। काजी उनकी प्रतिभा से इतना प्रभावित हुआ कि उसने दिल्ली में मुगल दरबार में पहुँचकर पंडितराज जगन्नाथ की प्रशंसा के पुल बाँधे। फिर तो बादशाह जहाँगीर ने उन्हें बुलावा भेजा।

पंडितराज जगन्नाथ जहाँगीर और शाहजहाँ इन दोनों बादशाहों के आश्रय में रहे। दाराशिकोह उन्हें बहुत मानते थे, पंडितराज जगन्नाथ का भी दारा पर बड़ा स्नेह था। दरबार में उन्हें प्रतिष्ठित कराने में नूरजहाँ के भाई और शाहजहाँ के श्वसुर आसफखान का बहुत हाथ था, जिनकी स्मृति में पंडितराज जगन्नाथ ने आसफखानविलास नाम से आख्यायिका आरम्भ की थी। पंडितराज की पदवी भी उन्हीं इसी मुगल दरबार से शाहजहाँ के समय मिली। पर जगन्नाथ मुगल दरबार

से बँध गए हों, ऐसा भी नहीं था। दरबार में पूरी प्रतिष्ठा पा कर भी वे सुदूर आसाम गए, जहाँ राजा प्राणनारायण ने उन्हें सम्मानित किया था। १९५७ में प्राणनारायण ने दिल्ली में उत्तराधिकार के लिए हो रहे खूनी संघर्ष के दौर में अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था। कदाचित् पंडितराज जगन्नाथ इसी अवधि में उसकी सभा में पहुँचे हों।

पंडितराज जगन्नाथ के विषय में दो किंवदन्तियाँ और कहीं जाती हैं। एक उनके लवंगी नाम की मुस्लिम सुन्दरी से प्रेम और विवाह की है दूसरी काशी पहुँच कर अपनी सुन्दर ललित भक्तिरचना गंगालहरी का पाठ करते हुए गंगा की लहरों में देह को विसर्जित कर देने की। दोनों ही इतिहास और तर्क से प्रमाणित नहीं होतीं। पंडितराज के नाम से दो या तीन श्लोक संस्कृत जगत् में अक्सर मुँह जबानी कहे जाते हैं, जिनमें किसी मुगब बादशाह से सुस्तनी, मस्तकन्यस्तहस्ता कुरंगी सदृश नयन वाली लवंगी को प्रदान करने का अनुरोध है। पंडितराज ने अपने सभी फुटकर श्लोक अपनी अन्तिम रचना भामिनीविलास में संकलित कर दिए थे, ये श्लोक उसमें नहीं मिलते न इनके पंडितराज के द्वारा रचे जाने का कोई प्रमाण ही मिलता है। डॉ. व्ही. राघवन् ने चिमनीचरितम् काव्य के आधार पर सिद्ध किया है कि पंडितराज के नाम से मिथ्या प्रचारित प्रणय संबंध वास्तव में अकबर के दरबार में दयाराम नाम के पंडित का अलीवर्दी खाँ के बेटी चिमनी से प्रणयसंबंध है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संस्कृत के पंडित समाज में जिन अनेक प्रसंगों और विषयों को लेकर दीर्घकालिक शास्त्रार्थ चलता रहा, उनमें से एक पंडितराज का यवनकन्या लवंगी से कथित संसर्ग की कथा की सत्यता और असत्यता को लेकर भी था। इस सदी के प्रखर संस्कृत के लेखकों में दो— संस्कृतचन्द्रिका के सम्पादक अप्पा शास्त्री और संस्कृत रत्नाकर के सम्पादक भट्ट मथुरानाथ शास्त्री पूरी तरह पंडितराज के पक्ष में सामने आए। दोनों का कहना था कि आन्ध्र के जिस तैलंग ब्राह्मण कुल में पंडितराज ने जन्म लिया, वहाँ सेवा के लिए मुगल दरबार में जाना ही पाप माना जाता था, एक बार समाज के लोगों की दृष्टि में जगन्नाथ जब इस पाप के भागी समझ लिये गए, तो फिर यह स्वाभाविक ही था कि ईर्ष्यालु स्वभाव के लोग मुस्लिम कन्या से संसर्ग जैसे अन्य पातकों का झूठा आरोप उन पर मढ़ें। भट्ट मथुरानाथ शास्त्री तो अपने रसगंगाधर के हिन्दी और संस्कृत के संस्करणों की भूमिका में विस्तार से ब्राह्मण समाज की संकीर्णता और जाति को लेकर दुराग्रहों की चर्चा करते हैं।

इन तथ्यों की चर्चा यहाँ इसलिए की गई कि मुगल दरबार में रह कर और उसकी सारी शानशौकत का उपभोग करके भी पंडितराज मन से एक नैष्ठिक

ब्राह्मण रहे। उनका यही रूप उनकी रचनाओं में झलकता है। रचना के स्तर पर वे दरबार की चकाचौंध को प्रतिबिम्बित करते लगते हैं, पर गहरे अर्थों में वे पारम्परिक बोध से जुड़े हुए हैं। यही स्थिति उनके शास्त्रकार की है।

महाकवियों और आचार्यों की महनीय परम्पराओं के होते हुए भी एक व्यक्ति में जाग्रत कवित्वप्रतिभा और उद्भट आचार्यत्व का ऐसा मणिकांचन योग संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपवादस्वरूप यदा कदा ही हुआ है। यह कहना कठिन है पंडितराज जगन्नाथ एक शास्त्रकार और चिन्तक के रूप में अधिक महनीय हैं या एक कवि के रूप में। दोनों ही स्तरों पर उनका कृतित्व अनोखा ही है। रसगंगाधर अधूरा होते हुए भी भारतीय काव्यशास्त्र का एक ऐसा महाद्वार प्रस्तुत करता है, जिस पर इसके पहले के तो सारे पथ आकर मिलते ही हैं, जिसे खोल कर आगे का पथ भी साफ देखा जा सकता है।

आनन्दवर्धन कुन्तक आदि यह तो बार-बार कहते हैं कि चारुत्व या सौन्दर्य की प्रतीति ही काव्य का अभिप्रेत है। पंडितराज ने इसे रमणीयता कहा। रमणीयता को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा कि लोकोत्तर आह्लाद जनक ज्ञान का विषय होना रमणीयता है। उपमा के लक्षण में वे फिर कहते हैं कि यह रमणीयता या सौन्दर्य चमत्कार का आधान करता है और चमत्कार विशेष प्रकार का आनन्द है। कुल मिलाकर रमणीयता की जो अवधारणा पंडितराज में बनती है, इसमें काव्यानुभव एक विशेष ज्ञान से जन्य है। यह मुक्तिबोध की शब्दावली में कहें, तो संवेदनात्मक ज्ञान है। काव्यानुभव के लिए आह्लाद और आनन्द जैसे शब्दों से प्रयोग करते हुए भी पंडितराज इसे रसात्मक बोध से अलगा कर देखते हैं, और इसीलिए वे विश्वनाथ के काव्यलक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का खंडन करते हैं। हर प्रकार के काव्य में रस हो यह आवश्यक नहीं है, पर रमणीयता हर प्रकार के काव्य में रहती है। ध्वनिवादी या रसवादी आचार्य की परंपरा जो मानती है कि कविता में सर्वत्र परिणति में तो रस रहता ही है उस पर पंडितराज ने फब्दी कसते हुए कहा है कि इस तर्क से तो गौ चल रही है— 'गौश्चलति'—इस वाक्य में भी रस का अनुभव होने लगेगा और यह भी कविता हो जाएगी। ध्वनिवादी तो कहते ही आ रहे थे कि गतोऽस्तमर्क: सूर्य डूब गया— इस वाक्य के पचासों अर्थ हो जाते हैं, उनमें किसी में विरह की व्यथा का अनुभव हो सकता है, किसी में शान्त रस का। फिर गाय चल रही है यह कहने पर तो और भी अर्थों की लड़ियाँ निकल सकती हैं आखिर गो शब्द के ही संस्कृत में पचासों अर्थ हैं। कविता में कथन के ढंग, वचोविन्यास या कथ्य की नवीनता के कारण भावक को उसे पढ़ते या सुनते समय कौतुक का अनुभव हो सकता है, उसके कारण परिणति में आह्लाद तो हो सकता है, पर रस रहे यह

आवश्यक नहीं। अत: रसविरहित कविता भी अर्थ की रमणीयता के कारण अच्छी कविता हो सकती है।

प्रतिभा अपना पथ स्वयं खोजती है। वह अपनी सामग्री भी जुटाती है और अपने को माँजती भी है। व्युत्पत्ति और अभ्यास तो प्रतिभा के परिकर हैं, वह उन्हें अपने साथ स्वयं समेट कर चलती है इसीलिए पंडितराज ने काव्य हेतु के निरूपण में काव्य का कारण केवल प्रतिभा को ही माना। काव्यप्रतिभा के उनके लक्षण में भी नया सोच है। काव्यघटनानुकूलशब्दार्थ की उपस्थिति प्रतिभा है।

यह सत्य है कि आनन्दवर्धन और अभिनव का कृतित्व सामने न होता, तो रसगंगाधर जैसा विशाल और महनीय ग्रंथ भी लिखा न जाता। पर यह भी सत्य है कि पंडितराज आनन्दवर्धन और अभिनव जैसे दिग्गजों को भी कई स्थलों पर अतिक्रान्त कर जाते हैं। यदि अभिनवगुप्त ने कहा कि रस ही नाट्य है और रस चित्तवृत्तिरूप है, तो पंडितराज ने व्यंजना को ही चित्त माना। भग्नावरण चैतन्य ही व्यंजना है—यह वे अपने रसविमर्श के निष्कर्ष में कहते हैं। अपनी परिणति में व्यंजना एक शब्दव्यापार नहीं रह जाता, वह रसिक या पाठन के चित्त में चलने वाली प्रक्रिया है, फिर वह एक प्रक्रिया भर नहीं, चित्त के भीतर की एक घटना है। यह घटना अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में रसिक या पाठक काव्य के मर्म का साक्षात्कार करता है। कुल मिलाकर चित्त, अभिव्यक्ति और साक्षात्कार एक हो जाते हैं। रसिक या पाठक की चेतना दिये की वह लौ बन जाती है, जो कविता के अर्थ को उसके भीतर झलका देती है। यह एक ऐसी कौंध होती है जिसमें दिये की लौ और उसमें झलकी वस्तु ये दोनों अलग-अलग नहीं रह जाते। बौद्ध दर्शन के शून्यवाद और जे. कृष्णमूर्ति के दर्शन में ध्यान की यही प्रक्रिया बताई गई है—जिसमें विषय और विषयी का अभेद हो जाए वह ध्यान है। यही निर्वाण है। नागार्जुन कहते हैं कि संसार ही निर्वाण है और निर्वाण ही संसार है। ठीक इसी तरह कविता के मर्म में पहुँचकर रसिक का मन ही कविता का मर्म है और कविता का मन ही रसिक का मर्म है। यह अपने को अपने से ही देखना है। यही स्वरूपावस्थिति है, यही तन्मयीभवन है।

यहीं पंडितराज सचमुच में पंडितराज बन कर सामने आते हैं। जो बात अभिनवगुप्त कहते-कहते रुक गए या न कह सके, उसे वे कहते हैं। और शैव दर्शन का आधार अलग कर वेदान्त की धरती पर खड़े होकर कहते हैं। वे कहते हैं कि भग्नावरण चैतन्य से युक्त रति आदि स्थायी भाव रस है—यह तो अभिनवगुप्त और मम्मट आदि का कहना अपनी जगह सही है ही, पर रत्यादिविशिष्ट भग्नावरण चित्त वास्तव में रस है—यह भी उतना ही सत्य है। चाहे भुज्यमान रत्यादि को रस कहो या रत्यागि को भोग की मनोदशा को रस कहो।

पंडितराज की दूसरी विशेषता यह है कि इस अद्वैतवादी वेदान्तीदृष्टि में ही वे सीमित नहीं हैं। कविता के सौन्दर्यशास्त्र के जितने विकल्प संभव है, सबकी संभावनाओं पर विचार करते हैं। इनमें कुछ मत तो उनके स्वयं के द्वारा उद्भावित ही हैं, जिन्हें नव्यमत और परमत के नाम से उन्होंने उद्धृत किया है। इन दोनों ही मतों में रसानुभूति एक भ्रम मानी गई है। जिस भूमि पर सारे संसार को माया कहा गया था, उस तक पहुँच कर संसार की दृष्टि से उसे माया कह पाना—यह पंडितराज में आकर ही संभव हो सका। नव्य मत में भावना एक दोष या चित्तविकार है। काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का अनुभव होने पर उनका संयोग होता है, उससे रति आदि स्थायी भावों का ग्रहण होता है और स्थायी भाव के ग्रहण के साथ ही यह चित्तविकार सहृदय में उल्लसित हो जाता है। फिर तो सहृदय एक काल्पनिक संसार से अपनी चेतना को ढंक लेता है। कहाँ तो चेतना पर पड़े अज्ञान के आवरण टूट जाने से होने वाला आत्मानुभव और कहाँ यह मत जो साहस के साथ यह कहता है कि कल्पित दुष्यन्तत्व आदि से चेतना का आच्छादित होना ऐसा ही है जैसे सीपी के टुकड़े को रजतत्व या चाँदी होने के भाव से आच्छादित करके देखना। फिर भी यह एक अनिर्वचनीय अनुभव है—यह भी साक्षिभास्य होता है। इस मत को प्रस्तुत करते हुए पंडितराज अपना यह आग्रह भी छोड़ देते हैं कि रस सर्वथा सुखजनक ही है। करण आदि रसों में दु:खानुवेध हो सकता है।

नव्य मत और परमत दोनों में ही रस की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं और उत्पन्न हुआ यह रस एक प्रकार का ज्ञान है। बीसवीं सदी के महाकवि मुक्तिबोध के शब्दावली में कहे तो संवेदनात्मक ज्ञान। इसमें रसानुभव भी समाहित है। पर यह जरूरी नहीं कि रस के अनुभव में सब कुछ बिसर जाए, विवेक भी। पंडितराज जिस रस की बात अपने काव्यलक्षण में कर रहे हैं, वह साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का रस नहीं है। वे काव्यानुभव को एक विशेष कोटि का ज्ञान ही कहते हैं, रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। इस काव्यलक्षण में अर्थ कहने से काव्य की वस्तु भी काव्यबोध में सम्मिलित हो जाती है। रमणीयता का स्वरूप बताते हुए पंडितराज फिर कहते हैं कि लोकोत्तर आह्लादजनक ज्ञान का विषय होना रमणीयता है।

कुल मिलाकर काव्यानुभूति एक जटिल सम्मिश्र अनुभव है। यह कहना कठिन है कि यह भ्रम ही है, अनिर्वनीय आह्लाद ही है, दु:ख ही है, क्योंकि यह जीवन है, जीवन के विषय में ही क्या कहा जा सकता है—क्या वह मात्र आह्लाद है, मात्र सुख है या मात्र दु:ख?

करुणा के महागायक भवभूति प्रेम के अनुभव के विषय में कहते हैं—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।

निश्चय करना संभव नहीं कि यह अनुभव सुख ही है या दुःख ही है, यह प्रमोह ही है या निद्रा है या विष का फैल जाना है या मद है।

इसी दृष्टि से पंडितराज ने शृंगार के दो भेदों सम्भोग और विप्रलंभ के स्वरूप की एक रोचक व्याख्या की है। सम्भोग शृंगार से सामान्यतः यह समझा जाता है कि नायक और नायिका का देह के स्तर पर एक स्थान पर होना। पंडितराज कहते हैं कि ऐसा नहीं है। दम्पति का सामानाधिरण्य या एक जगह साथ-साथ होना सम्भोग नहीं है, न उनका वैयधिकरण्य अथवा भौतिक स्तर पर दूर-दूर होना ही विप्रलम्भ है। संयोग और वियोग अन्तःकरण की चित्तवृत्तियाँ हैं। एक ही शैया पर सोये दोनों दम्पति वियोग का अनुभव करते रह सकते हैं और उनके वर्णन में संयोग नहीं विप्रलम्भ शृंगार की निष्पत्ति हो सकती है। देह से पास-पास होकर भी दो जन एक-दूसरे से कोसों दूर हो सकते हैं—इस अनुभव को कवि अमरुक ने मार्मिक अभिव्यक्ति दी है।

पंडितराज का यह विवेचन अमरुक की कविता को समझने की एक कुंजी देता है। अमरुक के अनेक पद्यों में देह के स्तर पर पास होकर भी एक-दूसरे के बीच न पाटी जा सकने वाली खाइयों का अनुभव करते दम्पति चित्रित हुए हैं। पंडितराज के विवेचन से यह तथ्य भी स्थापित होता है कि सम्भोग और विप्रलम्भ एक साथ एक ही पंक्ति में अनुभव किए जा सकते हैं।

इसी तरह वीररस के भेदों में पंडितराज सत्यवीर, पांडित्यवीर और क्षमावीर जैसे भेद प्रस्तावित करते हैं। प्राचीन आचार्यों ने वीररस के चार प्रकार स्वीकार किए—दाननीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर।

सत्रहवीं शताब्दी के आचार्य का अपने से पहले की दो हजार वर्षों की काव्यचिन्तन और सौन्दर्यशास्त्र की परम्परा पर सवाल खड़े करने का साहस और अभिनवगुप्त और मम्मट आदि आचार्यों के आधिपत्य को तोड़ने की सामर्थ्य दोनों पंडितराज में देखी जा सकती है। ध्वनिवादियों की इस मान्यता पर कि गुण (माधुर्य, ओजस् और प्रसाद) रस के ही धर्म है, उपचार या आरोप से उन्हें शब्द और अर्थ के धर्म कहा जा सकता है—पंडितराज खारिज करते हैं। उनके अनुसार इस तरह परोक्ष रूप से नहीं गुण साक्षात् शब्द और अर्थ के धर्म कहे जाने चाहिए। वे ध्वनिवादियों के ही तर्क का उपयोग उनकी मान्यता के निरास के लिये करते हैं। ध्वनि या रस काव्य का आत्मा है। आत्मा तो निर्गुण होता है। फिर गुण रस के धर्म हैं—यह कैसे कहा जा सकता है ? लगभग एक हजार साल बाद वामन को काव्यशास्त्र में जिस तरह पहचान कर पुनः प्रतिष्ठित किया

गया—वह पंडितराज की निराली प्रतिभा ही थी। वे इस प्रसंग में वामन को जरत्तर (प्राचीन) आचार्य कह कर सम्मान देते हुए वे उनके दस शब्द गुणों और दस अर्थगुणों का विस्तृत विवेचन करते हैं। फिर मम्मट के स्वीकृत गुण और उनकी रसधर्मता का भी प्रतिपादित करते हैं। ध्वनिवाद और अलंकारवाद में जो विवाद था वह वास्तव में कृत्रिम था—इस बात को पंडितराज ने समझा।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त तक से असहमति प्रकट करने में पंडितराज को हिचकिचाहट नहीं है। अप्पय दीक्षित जैसे महान् दार्शनिक और मर्मज्ञ आचार्य से तो उनकी लागडाट है ही। आनन्दवर्धन और मम्मट जैसे आचार्यों के प्रभाव से काव्यशास्त्र में एक प्रवृत्ति पनपी थी—सब जगह रस में पर्यवसान और व्यंग्य अर्थ खोजने की। अप्पय दीक्षित ने इसके कारण एक स्थल पर चूक की है, जिसके लिए पंडितराज उनकी अच्छी खबर लेते हैं। कालिदास ने रघुवंश के पहले पद्य में जगत् के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर की वन्दना करते हुए मंगलाचरण किया है। जगतः पितरौ या जगत् के माता-पिता के लिए उन्हें विशेषण दिया है—'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' वाणी और अर्थ की तरह एकमेक हुए। अपने चित्रमीमांसा नामक ग्रंथ में अप्पय दीक्षित कालिदास के इस पद्य में सम्भोग शृंगार की अभिव्यक्ति मानते हैं। चित्रमीमांसा के रचनाकाल से पंडितराज कुछ ही वर्षों के फासले पर हैं। खण्डन करने के लिए ही सही, उन्होंने चित्रमीमांसा की एक-एक पंक्ति को ध्यान से पढ़ा होगा। अप्पय दीक्षित जैसे महान् दार्शनिक की उपस्थापनाओं पर जिस तरह वे सटीक प्रश्न खड़े करते हैं, वह शास्त्रार्थ का बेजोड़ निदर्शन भी है।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के विवेचन पर भी सवाल खड़े करने की ताब रखने वाले पंडितराज दबंग तो थे ही। आनन्दवर्धन और अभिनव आदि ने बहुत आग्रह के साथ रस को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य घोषित और साबित किया है। असंलक्ष्यक्रम का अर्थ हुआ जिसमें व्यंग्य अर्थ तक पहुँचने का क्रम तो हो पर वह क्रम रसिक को पता न चल पाए। यह वह क्रम खोजता रह गया तो रसास्वाद नहीं कर पाएगा। इसके लिए इन आचार्यों ने शतपत्रसूचीवेधन्याय का उदाहरण दिया है। सौ कमल की पंखुड़ियाँ एक के ऊपर एक करके रखी हों और उनमें सुई चुभा दी जाए, तो वह एक क्षणांश में सारी की सारी सौ पंखुड़ियों के आर-पार भेद कर दूसरी ओर निकल आएगी। इसमें पहले पहली पंखुड़ी में छेद होगा, फिर दूसरी में और इस क्रम से अन्तिम सौवीं पंखुड़ी में। यह क्रम तो रहेगा पर छेदन की द्रुत गति के कारण हम यह क्रम लक्षित नहीं कर पाते। ऐसे ही काव्य में रसास्वाद की दशा में चित्त तुरंत इस तरह आस्वाद में डूब जाता है कि किन विभावों, किन अनुभावों या स्थायी भावों के मिलने से किस तरह रस

तक हम पहुँचे इस क्रम का पता ही नहीं चलता। पंडितराज कहते हैं कि स्थायी भाव के बोध तक तो क्रम रहता है। यह एक क्रान्तिकारी मान्यता है। यह रस के सारे स्थापित मानक को उलट देती है। रस की ऐसी महिमा आन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट ने स्थापित कर दी कि उसमें तार्किकता या विचार के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा। क्रम का ही पता न चलेगा, तो रसानुभूति में हम कोई ओर छोर नहीं पकड़ सकते, कविता में अवश होकर बह जाएँगें। संलक्ष्यक्रमता इस अवशता का काट है। अनेक कविताएँ ऐसी होतीं हैं, जिनमें हम विचार करने के लिए रुकते हैं, प्रसंग को पकड़ते हैं, फिर क्रम से विभाव अनुभाव आदि को और फिर तात्पर्य को ग्रहण करके स्थायी भाव की अभिव्यक्ति कर पाते हैं उसके आगे रस तक पहुँचते हैं। ऐसी कविताओं में रसास्वाद क्रम से ही होगा। पंडितराज इससे स्पष्ट करने के लिए अपना ही पद्य उद्धृत करते हैं—

तल्पगताऽपि च सुतनुः श्वासासङ्गं न या सेहे।
सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति॥

सेय पर जो सुन्दरी
पहले प्रिय की साँस का संग भी सह नहीं पाती थी
अब वही
हृदय की ओर बढ़ते
प्रिय के पाणि को
हटाती है—पर बहुत धीरे।

पंडितराज ने अपना यह उदाहरण बड़ा सटीक दिया है। इसमें पहले की बात और अब की बात के द्वारा एक क्रम तो अभिधा में ही बना लिया गया है, काव्य के आस्वाद के लिए उसे पकड़ना होता है। फिर प्रिय के पाणि को हटाने की क्रिया के लिए क्रियाविशेषण आ गया है—मन्दम्—धीरे। यह कविता में स्थायी भाव तक पहुँचने की गति को धीमा कर देता है। यहाँ शतपत्रसूची-वेधन्याय से कविता की पंखुड़ियाँ नहीं भिद सकतीं और तत्काल हम स्थायी भाव तक नहीं पहुँच सकते। स्थायी भाव तक क्रम से पहुँचते हैं और अभिव्यक्त हुआ स्थायी भाव रस हो जाता है। इस तरह रस का अनुभव यहाँ हम करते हैं।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कह देने से रस का क्षेत्र ही सीमित हो जाता है। कई कविताएँ भीतर से आन्दोलित करती हैं, चकित करती हैं, सोचने को प्रेरित भी करती हैं और रस तक ले जाती है। ऐसी कविताओं के रसात्मक काव्य के दायरे से बाहर कर दिया जाएगा, तो रस का क्षेत्र भी सीमित हो जाएगा। कालिदास के कुमारसम्भव में नारद हिमालय से मिलने आते हैं। वे पार्वती के विवाह को लेकर चर्चा करते हैं। कन्या पार्वती भी पास बैठी हुई यह सारी चर्चा सुन रही हैं। इस प्रसंग में कालिदास ने कहा है—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥

(जब देवर्षि ऐसा कह रहे थे तो पिता के पार्श्व में सिर झुकाए बैठी पार्वती लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिनती जा रही थीं)।

यह श्लोक संलक्ष्यक्रम व्यंग्यध्वनि के उदाहरण में भी दिया जाता है। सिर झुका कर चुपचाप बैठे रहने से लज्जा व्यक्त होती है, लीलाकमल के पत्र गिनना एक ऐसा काम है, जो तभी किया जाएगा, जब मन कहीं और लगा होगा। यहाँ पार्वती कमल की पंखुड़ियाँ क्यों गिनती चली जा रही थी—इस पर विचार करने के लिए थोड़ा रुकना होता है। कमल के पंखुड़ियाँ गिनना एक बहाना है, मन तो नारद उसके विवाह को लेकर जो बात कह रहे हैं, उसकी तरफ है। तब हम समझ पाते हैं कि गिनती करने में अनायास अंगुलियाँ चल रही हैं, सचमुच में कोई गिनती नहीं की जा रही। तब यहाँ पार्वती की उत्सुकता और लज्जा दोनों भाव प्रकट होते हैं। जिस तरह से कवि ने पार्वती की लज्जा और उत्सुकता को अभिव्यक्ति दी है, वह हमें चमत्कृत करती है। जहाँ भाव व्यक्त हो, वहाँ भावध्वनि होता है, जो रसादिध्वनि के मुख्य आठ भेदों में से एक है। पर आनन्दवर्धन आदि के मानदण्डों से इस पद्य की मीमांसा करें, तो यहाँ रस या भाव मुख्य होगा ही नहीं, क्योंकि असंलक्ष्यक्रमता नहीं रह गई।

रसगंगाधर में सबसे विस्तृत विवेचन अलंकारों का है, यद्यपि ग्रंथ पूरा न होने से वह अपूर्ण छूट गया है। पंडितराज ने जिस तरह अलंकारों को काव्य-रचना प्रक्रिया से जोड़ा है वह अलंकारविवेचन में उनका अपना योगदान है। उपमा के विवेचन में उन्होंने मम्मट आदि की तरह साधर्म्य शब्द का प्रयोग न करके सुन्दर और वाक्यार्थ के उपस्कारक सादृश्य को उपमा कहा है। सादृश्य शब्द कला चिन्तन में व्यवहृत होने वाला अधिक सटीक पारिभाषिक शब्द है। इस सादृश्य की कविता में व्याप्ति का जो परख पंडितराज ने की है, उसे वे ही कर सकते थे। अभेदप्राधन रूपक, अपह्नुति, परिणाम और भ्रान्तिमान् जैसे अलंकारों में सादृश्य रहता तो है, पर उसका कोई चमत्कार नहीं होता। सादृश्य का चमत्कार और वैभव उपमा में ही खुलता है। इसके लिए पंडितराज ने एक उदाहरण दिया है—

त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः।

तुममें क्रोध होना
मुझे लगता है
जैसे चन्द्रमा में आग का जलना।

यहाँ उपमान एक असम्भव स्थिति है, आग की लपटों के साथ चन्द्रमा की कल्पना नहीं की जा सकती। पंडितराज कहते हैं कि यही कविकल्पना का

चमत्कार है। वह नायिका में क्रोध की सर्वथा असंभावना दिखाने के लिए चन्द्रमा में एक असंभाव्य स्थिति को देखकर उससे उपमा देता है। यहाँ फिर भी यह सवाल आता है कि असत् पदार्थ के सादृश्य कैसे चमत्कार उत्पन्न कर सकता है? यही कविता की खूबी है, कल्पित और असत् का सादृश्य भी वहाँ चमत्कार ला देता है।

नव्यन्याय की पारिभाषिक शब्दावली का सही प्रयोग पंडितराज ने अलंकारों के परस्पर सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने के लिये किया। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि उपमेयोपमा (उपमेय को उपमान और उपमान को उपमेय बनाकर कहना) में तृतीयसदृशव्यवच्छेद होता है। तीसरे की समानता को कवि निरस्त कर देता है। अनन्वय (उपमेय को ही उसका स्वयं का उपमान कहना) में द्वितीयसदृश्यव्यवच्छेद होता है। इसका उदाहरण पंडितराज ने यह दिया है—

लोहितपीतैः कुसुमैरावृतमाभाति भूभृतः शिखरम्।
दावज्वलनज्वालैः कदाचिदाकीर्णमिव समये।

लाल पीले फूलों से ढका
पर्वतशिखर
किसी समय दावानल की लपटों से घिरे
पर्वतशिखर जैसा।

वसन्त के आते ही पहाड़ की चोटी लाल पीले फूलों से ढक गई है। पहाड़ की चोटी अद्वितीय है। पंडितराज की खूबी यह है कि पहाड़ी की लाल पीले फूलों से ढकी चोटी पहाड़ की ही चोटी की तरह है—यह वे नहीं कहते। मम्मट आदि ने अनन्वय में जिस तरह के उदाहरण दिए हैं, वे कुछ ऐसे ही हैं— नितम्बिनी सापि नितम्बिनीव—वह सुन्दरी उसी के जैसी है। पंडितराज के उदाहरण में पहाड़ की चोटी को पहाड़ की चोटी से ही उपमा दी गई है, अतः अनन्वय तो है, पर एक ही पहाड़ की चोटी के भी उन्होंने दो दृश्य परिकल्पित कर दिए हैं—एक में वह लाल पीले फूलों से ढकी हुई है, दूसरे में ग्रीष्म में दावानल की लपटों से घिरी हुई। इस उदाहरण के कारण अनन्वय की सारी परिकल्पना को ही विस्तार मिल गया है। यह उसी के जैसा है यह कह देने भर से अनन्वय नहीं सध जाता—उसकी अद्वितीयता या जिसे पंडितराज द्वितीय-सब्रह्मचारिव्यवच्छेद कहते हैं—उसके बताने के लिए उसमें अद्वितीय ही कुछ जोड़ा जाना चाहिए। लाल पीले फूलों से ढका पहाड़ भी अद्वितीय है, वही पहाड़ दावानल की लपटों से ढका होने पर भी वैसा ही अद्वितीय रहता है। इन दोनों स्थितियों में पहाड़ का पहाड़ की ही तरह रहना उसकी अपनी अद्वितीयता है, जो और किसी में नहीं है।

अन्य अलंकारों में असम अलंकार की परिकल्पना भी पंडितराज की विचारणीय है। सर्वथा उपमान का निषेध होने पर असम अलंकार होता है। यह प्रस्तुत की निरुपमानता का आख्यान सारे उपमानों को निरस्त करके ही हो सकता है। अज्ञेय की तरह कवि को लगने लगता है कि सारे उपमान मैले और बासी हो गए। या तुलसीदास की तरह वह कहे—

सब उपमा कवि रहे जुठारी, केहिं पटतरों बिदेहकुमारी।

पंडितराज कहते हैं कि यह ऐसा अलंकार है जो वाच्य होने पर ही चमत्कार पैदा करता है। अनन्वय में तो यह व्यंजित होता ही है। पर यदि सारे उपमानों का निषेध करना है, तो सीधे अभिधा में ही किया जाना चाहिए।

अलंकारों की जितना विवेचन रसगंगाधर में मिलता है, उसमें एक अलंकार पंडितराज की अपनी परिकल्पना है—तिरस्कार। एक और अलंकार पंडितराज ने लिया है—अवज्ञा। पर अवज्ञा सर्वथा नया अलंकार नहीं है, पंडितराज के पहले उसकी परिकल्पना जयदेव अपने चन्द्रालोक में कर चुके थे।

अवज्ञा और तिरस्कार एक-दूसरे के साथ चलने वाले अलंकार हैं। अवज्ञा होने पर तिरस्कार हो सकता है, तिरस्कार हो तो अवज्ञा साथ रह सकती है। जयदेव ने अवज्ञा के लक्षण में कहा था कि किसी वस्तु को गुण दोष दोनों दृष्टि से अक्षम बताया जाए, तो अवज्ञा अलंकार होता है। पंडितराज ने इसे उल्लास अलंकार का विपर्यय कहा। उल्लास में किसी के गुण और दोष का आधान किसी ओर में दिखाया जाता है। यह स्वीकृति का अलंकार है। अवज्ञा और तिरस्कार अस्वीकृति के अलंकार हैं।

अवज्ञा और तिरस्कार जैसे अलंकार कविता में सदा से प्रयोग में आते रहे हैं, पर आचार्यों ने उन्हें परिभाषित तब किया जब वे पूरी काव्य धारा में एक विशेष प्रवृत्ति के रूप में परिलक्षित हुए। बारहवीं शताब्दी के साथ कविता में अवज्ञा का स्वर विशेष रूप में गूँजा होगा और तिरस्कार को वाणी तो स्वयं पंडितराज ने ही अपनी कविता में उदग्र रूप से दी। शास्त्रार्थ की उठापटक से पाई स्वभाव की प्रचंडता पंडितराज में भरपूर थी। इसे साथ स्वाभिमान, अध्ययन और मनस्विता का योग था ही। मुगल दरबार हो या अपने लोगों का समाज अवज्ञा और तिरस्कार तो उन्हें मिला ही। उसका प्रत्युत्तर भी अवज्ञा और तिरस्कार के द्वारा उन्होंने दिया।

उल्लास में किसी के गुण और दोष का आधान किसी और में दिखाया जाता है, यह अनुगमन और सम्मान का भाव प्रकट करता है। अवज्ञा में स्वर नकार या अस्वीकार का रहता है। यह नकार दुर्गुण का, दुष्टता का और अन्याय का ही हो सकता है। इसीलिए अवज्ञा के उदाहरण में खलचरित का उद्‌घाटन

और उसका अस्वीकार हम देखते हैं। पंडितराज ने तो खलों को लेकर लिखे अपने श्लोक अवज्ञा अलंकार के उदाहरण में दिए ही हैं। इनमें अवज्ञा के साथ उपहास और व्यंग्य का पुट देखा जा सकता है। अतः अवज्ञा यदि स्थायी भाव हो, तो उसमें विरोध, व्यंग्य और उपहास के भाव उसके सहगामी या पोषक बनकर सहचरण करते हैं। पर ये भाव अवज्ञा के आगे दबे रहते हैं। जैसे पंडितराज का यह उदाहरण अवज्ञा का है—

निष्णातो ऽपि च वेदान्ते साधुत्वं नैति दुर्जनः।
चिरं जलनिधौ मग्नो मैनाक इव मार्दवम्॥

(*रसगंगाधर,* निर्णयसागर सं., पृ. ६८५)

वेदांत में निष्णात होकर भी
सज्जन नहीं बन जाता है दुर्जन।
जैसे मुलायम नहीं हो जाता
चिरकाल तक सागर में डूबा रह कर भी
मैनाक पहाड़।

यह अपने समय के किन्हीं वेदांतियों पर भी छींटाकशी हो सकती है।

खलों से मिले अनादर या परिहास से उबरने की प्रक्रिया भी इस अवज्ञा के निर्माण में शामिल हो जाती है। पंडितराज ने इसी का पल्लवन करते हुए फिर अपना एक और उदाहरण इसीलिए दिया है—

मद्वाणि मा कुरु विषादमनादरेण
मात्सर्यमन्दमनसां सहसा खलानाम्।
काव्यारविन्दमकरन्दमधुव्रताना-
मास्येषु यास्यसि सतां विपुलं विलासम्॥ (पृ. ६८६)

मेरी वाणी! मत कर विषाद
मात्सर्य से मन्द मन वाले खलों से पाये
अनादर को लेकर अचानक;
काव्यकमल के पराग के मधु का व्रत लेने वाले
सहृदयों के मुख में तुझे करना है
विपुल विलास।

आततायियों, खलों से मिले उपहास, अवज्ञा या तिरस्कार का तथा इससे उपजे विषाद का वर्णन करने से अवज्ञा और तिरस्कार अलंकार कविता में नहीं बनते। ऐसी अनुचित अवज्ञा या तिरस्कार पर अवज्ञा और तिरस्कार की भावना रची जाए, तो अवज्ञा और तिरस्कार अलंकार रचे जाते हैं। इसलिए पंडितराज

का दूसरा श्लोक जो बंध में बहुत बढ़िया है अवज्ञा का उदाहरण नहीं कहा जा सकता—

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघासु वाचंयमाः
भूपालाः कमलाविलासमसृणोन्मीलन्मदाघूर्णिताः।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विलासो मम ?॥

विद्वज्जन इस वसुधातल पर
दूसरे के वचनों की प्रशंसा में बरतते हैं वाणी का संयम।
राजा लोग लक्ष्मी के विलास की सुकुमारता के मद में
तिरते उतराते रहते हैं
अब किस धन्य के मुख में लास्य करेगा
कामालस अप्सराओं के अधरों की माधुरी को
फीका बनाता
मेरी वाणी का विलास ?

यहाँ अपनी कविता के माधुर्य पर रीझे होने और उसकी कद्र न किए जाने का खेद प्रधान है। विषादन अलंकार की यहाँ स्थिति बनती है, पर अवज्ञा या तिरस्कार अलंकारों की नहीं।

दुर्जन एक भय और आतंक की सृष्टि करता है, क्योंकि वह अकारण वैर पालता है। राजा हर्ष ने अकारण ही बाण के लिए मन मैला बना लिया था। भरी राजसभा में जब राजा ने उन्हें लक्षित करके कहा कि यह तो बड़ा भुजंग या लंपट है, तो बाण ने भी तन कर दर्पभरा उत्तर दिया। इस उत्तर में राजा हर्ष के प्रति अवज्ञा और तिरस्कार परोक्ष रूप से प्रकट हैं, प्रत्यक्ष में बाण अपने लिए यही कहा है कि आपने मुझ में ऐसी क्या लंपटता देखी ? यहाँ प्रकट में राजा के लिए विनय भी है, जिसके भीतर फटकार भरी हुई है। हर्षचरित में बाण और हर्ष के संवाद का यह प्रसंग अवज्ञा अलंकार की दोहरी संरचना सामने रखता है। हर्ष की प्रकट अवज्ञा और बाण की उसके उत्तर में प्रच्छन्न अवज्ञा। इन दोनों से द्वंद्व से एक दृष्टि भी कवि के स्वाभिमान की यहाँ रची गई है। कादंबरी जैसी सुकुमार ललित मधुर कथा का आरम्भ खलों की प्रशस्ति के साथ बाण ने किया।

कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलाः
तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे
हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥

बाँधती जंजीरों की तरह
कटु खन खन करने वाले
दुख देते हैं मलदायक खल।
मणिजड़े नूपुरों से
सुन्दर ध्वनि करते पग पग पर
हर लेते हैं मन
सज्जन

साथ ही खलों के लिए यह फटकार और अवज्ञा सीधे प्रकट होती है—

अकारणाविष्कृतवैरदारुणादसज्जनात् कस्य भयं न जायते।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः सुदुस्सहं सन्निहितं सदा मुखे॥

(*कादम्बरी,* कथामुख-५)

अकारण आविष्कृत कर देता है जो
वैर दारुण
उस असज्जन से
किसको नहीं होता भय?
जिसके मुख में दुर्वचन
सदा भरा रहता है
जैसे बड़े साँप के भीतर विष।

अलंकारकोष में ब्रह्ममित्र अवस्थी ने तिरस्कृति नाम के अलंकार का उद्भावक अलंकारमणिहार के रचयिता श्रीकृष्णब्रह्मतंत्र परकाल स्वामी को बताया है, जो पंडितराज के काफी बाद में हुए। वास्तव में श्रीकृष्ण ब्रह्मतंत्र परकाल स्वामी ने तिरस्कृति अलंकार का प्रतिपादन ही पंडितराज के आधार पर किया है। पंडितराज के पहले की आचार्य परम्परा में तिरस्कार एकदम अछूता अलंकार है और इसकी उद्भावना पंडितराज ही कर सके थे, क्योंकि उन्होंने तिरस्कार झेला और तिरस्कार की बहुत तीखी उद्दीप्त अभिव्यक्ति अपनी कविता में भी दी। तैलंग ब्राह्मणों के प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेकर भी अपना घर बार छोड़कर यायावरी जो पकड़ी तो तिरस्कार पाया। अपने समाज के लोगों से ब्राह्मण वर्ग से तिरस्कार बहुत मिला। पर यह जो तिरस्कार मिला यह रचनात्मक तिरस्कार नहीं था। इसे पचा कर कविता में जिस तिरस्कार के भाव को व्यक्त किया वह रचनात्मक तिरस्कार है, वह कविता में अलंकार बनता है।

पंडितराज ने तिरस्कार का लक्षण किया है—दोषविशेषानुबन्धाद् गुणत्वेन प्रसिद्धस्यापि द्वेषस्तिरस्कारः।

कविता में द्वेष का भाव आए, वह न तो किसी दबे कुचले के लिये आए, न किसी ऐसे गेरे के लिये। आए भी समर्थ व्यक्ति के लिये आए, जो गुणों के

कारण प्रसिद्ध हो, जिसकी कीर्ति गाई जा रही हो। भले ही उसकी जयजयकार की जा रही हो या कराई जा रही हो, पर कवि तो जानता है कि उसमें दोषविशेष का अनुबन्ध कहाँ है—क्या है। तिरस्कार का जो उदाहरण पंडितराज ने दिया है उसमें संसार के वैभव का कवि तिरस्कार करता है। लक्ष्मी में सारे गुण होने पर भी वह तिरस्करणीय है।

पंडितजन तिरस्कार अलंकार को स्वीकार नहीं करेंगे—यह पंडितराज जानते थे। वे अपने तिरस्कार निरूपण में विरोधियों की ओर से पूर्वपक्ष उठाते हुए कहते हैं कि तिरस्कार तो द्वेषमात्र है। क्या कविता द्वेष की अभिव्यक्ति के लिये है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि कोई वस्तु परिणाम में दुःखद हो, तो उसके प्रति द्वेष होगा। जो पंडितराज कविता में एक ओर तो लोकोत्तर आह्लाद की बात करते हैं, वे जानते हैं कि इस लोकोत्तर आह्लाद का पथ लौकिकता के सारे कलुष मलीमस से गुजर कर ही खुलता है। उन्हीं की यह अन्योक्ति है—

पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्
परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः।
स त्वं पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्।

पहले कभी मानसरोवर में थे तुम
जहाँ खिले पराग के बीच लड़खड़ाते रहते सारस और भौंरे
और सुवासित होता था उससे जल
उस जल में उम्र बिता कर
हे मराल कुल नायक, कैसे रह रहे हो इस गन्दे पोखर में
मिल कर टर्र टर्र कर रहे
कई मेढकों से जो आकुल है?

यहाँ मरालकुलनायक या हंस के लिए भी तिरस्कार है और मेढकों से भरे गन्दे पोखर के लिये भी। पर तिरस्कार अलंकार यहाँ अस्फुट है, स्फुट तो अन्यापदेश या अन्योक्ति अलंकार ही है। हंस प्रतिभाशाली विद्वान् और निर्मल अन्तःकरण वाले सज्जन का प्रतीक है। ऐसा व्यक्ति किसी छोटे से प्रलोभन में पड़ कर नीच लोगों की सभा में क्या कर रहा है—यह तिरस्कार से भरा संकेत पंडितराज या तो स्वयं अपने लिये कर रहे हैं, या अपने समय के किसी पंडित के लिये।

अन्योक्ति अलंकार में अक्सर तिरस्कार या फटकार अंतर्गुंफित रहती है। अतएव अन्योक्ति अलंकार के साथ कहीं तो तिरस्कार अंग बन कर आता है,

कहीं व्यंग्य या व्यंजना से प्रकट होकर वह प्रधान भी हो उठता है। बिहारी द्वारा अपने विलासी आश्रयदाता को भेजे दोहे में यह स्थिति है—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यह काल।
अली कली सों ही बिंध्यौ आगे कौन हवाल॥

यहाँ कवि की विवक्षा राजा को फटकार लगाने की ही है। अली और कली के विलास का वर्णन उसकी उपेक्षा गौण है। अतएव व्यंजना में रहकर भी यहाँ तिरस्कार अलंकार ही प्रधान है।

अतएव एक तिरस्कार रचनात्मक और सावधान करने वाला हो सकता है। एक तिरस्कार विकृति पर चोट करने वाला हो सकता है। पंडितराज ने दोनों ही तरह का तिरस्कार झेला होगा। उनकी तिरस्कार अलंकार की कल्पना इन दोनों को समेटती भी है। कोई गुरु अपने छात्र को तिरस्कार के साथ डपटता है, यह छात्र के लिए कल्याण कर हो सकता है। पंडितराज ने ही अन्य पद्य में कहा—

गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभि-
स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ता-
ल्लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति।

गुरुओं की कठोर अक्षरों से भरी वाणी से
पा कर तिरस्कार
महिमा को पा जाते हैं नर
अगरु आग से घिरा हुआ होकर ही
प्रकट करता है
अलौकिक सुगंध।

यहाँ तिरस्कार की महत्ता का बखान दृष्टांत के द्वारा किया गया है, पर इसे तिरस्कार अलंकार का उदाहरण नहीं कहा जा सकता। दृष्टांत के साथ अस्फुट रूप से इसमें उल्लास अलंकार कहा जा सकता है, जो अवज्ञा और तिरस्कार का ठीक विपरीत अलंकार है। किसी के गुणों के स्वीकार से उल्लास अलंकार होता है। यहाँ तिरस्कार की गुणवत्ता का अंगीकार है।

भर्तृहरि की कविता में राजाओं की चुनौती के साथ गहरे और तल्ख तिरस्कार का अनुभव देती है। तिरस्कार के साथ पाखंड और झूठ पर फटकार लगाने वाले कबीर पंडितराज के पहले हो ही चुके थे। पंडितराज ने अरबी फारसी सीखी थी, ब्रजभाषा के कवियों के संपर्क में वे थे। संत कवियों की बेलाग वाणी उन तक न पहुँची हो, यह भी संभव नहीं लगता। इन कवियों की निःस्पृहता, सत्ता की अवज्ञा और दम्भ के तिरस्कार को लेकर कविता का शास्त्र गढ़ने काम उपक्रम पंडितराज ने किया।

यह तिरस्कार अलंकार परमहंसों और औघड़ों की वाणी में आता है कबीर जैसे कवियों की कविता में स्थान पाता है। यह नकार की प्रक्रिया से आता है। बौद्धों के माध्यमिक दर्शन में शून्यवाद की आधारभूमि यही है। कवि इसमें संसार को संसार की असारता को और उसके खोखलेपन को निरस्त करता है, वैभव के भीतर छिपे ह्रास से पहचान कर उसे ठुकराता है।

अवज्ञा और तिरस्कार मिलते-जुलते अलंकार हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि वे कविता में साथ-साथ रहें। यह सहचरण अंगागिभाव से हो सकता है, परस्पर उपमर्द्योपमर्दकभाव से हो सकता है और नीरक्षीरवत् संसृष्ट भी हो सकता है। तिरस्कार और अवज्ञा प्रायः संतों की वाणी में दो नदियों की धाराओं की तरह मिलकर निर्वेद का महाप्रवाह रच देते हैं। भर्तृहरि के उक्तियों में—

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नाताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः॥

तुम राजा हो तो हम भी
गुरु की उपासना कर उनकी प्रज्ञा के
अभिमान से हैं उन्नत
नाम तुम्हारा होगा अपने वैभव के कारण
कीर्ति हमारी तो दिशा दिशा में फैलाते हैं कविजन
हे मानी, बहुत बड़ा नहीं है हम दोनों में यों तो अंतर
फिर भी यदि तुम मुँह फेरे हो हम से
तो हम को भी तुम से क्या लेना देना!

कभी-कभी सत्ता के आगे मनस्वी भी मस्तक झुका लेता है। पर तुरत वह चेत जाता है। स्वाभिमान का जागरण ठकुरसुहाती के भाव को हटाकर फिर अवज्ञा और तिरस्कार की पीठिका पर उसे ले आता है। संत पलटूदास की तरह 'संतन कों कहाँ सीकरी सों काम' का भाव मन में आता है। इसमें समझौता कर लेने पर मनुष्य के रूप में झुक जाने से हुई ग्लानि भी मिली होती है। तब तिरस्कार अलंकार के साथ ग्लानि का भाव पोषक बनकर आता है। अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत एक सुभाषित में यह भाव है—

वृथा दुग्धोऽनड्वान् स्तनभरनता गौरिति परं
परिष्वक्तः षण्डो युवतिरिति लावण्यरहितः।
कृता वैदूर्याशा विकचकिरणे काचशकले
मया मूढेन त्वां कृपणमगुणज्ञं प्रणमता॥

थनों के भार से झुकी दुधारू
गाय मानकर
व्यर्थ साँड दुहा मैंने
कोई नवयौवना समझकर
बाहों में बाँधा हिजड़ा मैंने
चमकीले काच शकल पर
आस लगाई मैंने मणि की
मूढ था मैं
जो करता रहा प्रणाम
कृपण और अगुणज्ञ तुझे।

तिरस्कार के निबन्धन की रोचक शैलियाँ हमारी काव्य परम्परा में उभरती हैं। एक साथ दोहरा तिहरा तिरस्कार व्यक्त हो सकता है। सत्ता का तिरस्कार व सत्ता का मुख जोहने वालों का तिरस्कार। एक में अस्वीकृति होती है, दूसरे में फटकार का भाव। जैसे यहाँ—

किं कन्दराः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः
प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सकलफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः।
वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमुपगतप्रश्रयाणां खलानां
दुःखोपात्ताल्पवित्तस्मयवशपवनानर्तितभ्रूलतानि ॥

क्या लुप्त हो गए हैं कन्दराओं के कन्द
या पहाड़ों के सूख गए हैं झरने?
क्या पूरी तरह तहस-नहस हो चुके
सरस फल वाले पेड़?
और वल्कल वाली शाखाएँ उनकी?
जो मुँह ताके जा रहे हैं—
विनय का लबादा ओढ़े रहने वाले उन दुष्टों के
कठिनाई से पाये थोड़े से धन के घमंड में
हवा में थिरकती भौहों वाले चेहरे?

सीधे-सीधे कवि अपनी बात कह कर जिसके प्रति अवज्ञा और तिरस्कार प्रकट करना हो उसे सम्बोधित करता है। भर्तृहरि और कबीर की वाणी में यह देखा जा सकता है। अवज्ञा और तिरस्कार कविता में तभी सच्चे अलंकार बनते हैं, जब उनके पीछे बिना लाग लपेटे के सच कहने का साहस और सधुक्कड़ी निःस्पृहता हो।

इसी व्यंजना की पद्धति में ही कभी प्रतीक के माध्यम से तिरस्कार प्रकट होता है।

तिरस्कार की संरचना कविता में कई स्तरों पर हो सकती है। जब वाच्य और व्यंग्य दोनों में तिरस्कार हो तो यह दोहरा तिरस्कार है। इससे बहुस्तरीय जटिल संरचना निर्मित होती है। निराला की कुकुरमुत्ता कविता में कुकुरमुत्ते के कथन गुलाब के लिए तिरस्कार से भरे हुए हैं।

पंडितराज ने कविता के विषय में दो हजार साल की विचार परम्परा की नए सिरे से नापजोख की है और उसमें अनेक कोटियों में ऐसा कुछ नया जोड़ा है, जो बहुमूल्य है।

राधावल्लभ त्रिपाठी

जन्म : 15 फरवरी 1949 ई०, मध्य प्रदेश के राजगढ़ जिले में।

शिक्षा : एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्०।

प्रकाशन : अब तक संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में 107 पुस्तकें। पुस्तकों में आदिकवि वाल्मीकि, संस्कृत कविता की लोकधर्मी परम्परा (दो संस्करण), काव्यशास्त्र और काव्य (संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्यपरम्परा शीर्षक से नया संस्करण), लेक्चर्स ऑन नाट्यशास्त्र, तथा नाट्यशास्त्रविश्वकोश (चार खण्ड) आदि चर्चित हुईं। शोध पत्रिकाओं में 185 शोधपरक, चिंतनपरक लेख तथा पचास से अधिक अन्य समीक्षात्मक लेख प्रकाशित। विगत चालीस वर्षों से संस्कृत तथा हिन्दी में रचनात्मक लेखन। हिन्दी में तीन कहानी-संग्रह व एक उपन्यास तथा दो पूर्णाकार नाटक प्रकाशित। संस्कृत और हिन्दी में लिखी अनेक कहानियाँ और कविताएँ अन्य अनेक भाषाओं में अनूदित।

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के उन्नीस पुरस्कार व सम्मान। व्याख्यान, अध्यापन, सम्मेलनों में अध्यक्षता आदि के लिये अनेक बार विदेश प्रवास।

सम्प्रति : आचार्य, संस्कृत विभाग, डॉ० हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर। 1970 ई० से विश्वविद्यालय में अध्यापन।

संस्कृत भाषा, साहित्य एवं समीक्षा

अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शास्त्र	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
वैदिक साहित्य एवं संस्कृति	डॉ० कपिलदेव द्विवेदी
अथर्ववेद का काव्य	डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी
संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास	डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी
संस्कृत का समीक्षात्मक काव्यशास्त्र	प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र
रसों की संख्या	डॉ० वी० राघवन, अनुवाद : प्रो० अभिराज राजेन्द्र मिश्र
अभिनव का रस-विवेचन	नगीनदास पारेख
अभिनव रस सिद्धान्त	डॉ० दशरथ द्विवेदी
रसाभिव्यक्ति	डॉ० दशरथ द्विवेदी
वक्रोक्तिजीवितम्	डॉ० दशरथ द्विवेदी
सौन्दर्यलहरी : तंत्र-दृष्टि और सौन्दर्य-सृष्टि	प्रभुदयाल मिश्र
ध्वन्यालोक: (दीपशिखा टीका सहित पूर्णतया संशोधित परिवर्धित)	आचार्यचण्डिकाप्रसाद शुक्ल
मृच्छकटिक : शास्त्रीय, सामाजिक एवं राजनीतिक अध्ययन	डॉ० शालग्राम द्विवेदी
उपरूपकों का उद्भव और विकास	डॉ० इन्द्रा चक्रवाल
संस्कृत नाटकों में शौरसेनी (कालिदास और राजशेखर के संस्कृत नाटक)	डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव
संस्कृत के प्रतीकात्मक नाटक	डॉ० आशारानी त्रिपाठी
संस्कृत का भाषाशास्त्रीय अध्ययन	डॉ० भोलाशंकर व्यास
संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास	आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी
शृंगार प्रकाश: (1-36) (पृ० 2050)	आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी
कालिदास : अपनी बात	आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी
मुद्राराक्षसम्	सम्पा० : डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी
दशरूपकम्	सम्पा० : डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी
उत्तररामचरितम् (श्री भवभूति प्रणीतम्)	डॉ०रामअवध पाण्डेय व डॉ०रविनाथ मिश्र
अभिज्ञानशाकुन्तलम्	सम्पा० : डॉ० शिवशंकर गुप्त

Rs. 180.00
ISBN 978-81-7124-568-0
ISBN 81-7124-568-4

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

www.vvpbooks.com